

प्राकृतिक

वर्ष 12, अंक 2,

जुलाई-सितम्बर' 2000 ई०



अहिंसक अर्थशास्त्र
कमण्डलु में ही भूमण्डल का अर्थशास्त्र है

आवरण पृष्ठ के बारे में

प्राकृत-साहित्य में 'धन' के बारे में अनेकत्र मार्मिक एवं उपयोगी उद्गार प्राप्त होते हैं। 'धन' लोक में अच्छाई और बुराई —दोनों क्षेत्रों में महायक संसाधन है।

पुण्योपार्जित धन को विवेकीजन दान, धर्मप्रभावना एवं परोपकार आदि पुण्यकार्यों में नियोजित करके उसे आगामी पुण्यबन्ध का कारण भी बना लेते हैं। मनीषियों ने कहा है कि "धन और जल बहता हुआ ही अच्छा होता है, रुकने पर सड़ने लगता है।" मात्र संग्रहवृत्ति से धन के प्रति उत्पन्न होने वाला मोहभाव अनेकों अनर्थों का कारण बनता है। इसीलिये आचार्य शिवार्य ने लिखा है— "अत्यं अणत्थमूलं।" —(भगवती आराधना, 1808) अर्थात् धन सभी अनर्थों की जड़ है।

परिवार, राज्य एवं राष्ट्र के हित में धन की आय एवं व्यय के बारे में भी जैन आचार्यों ने अत्यन्त व्यावहारिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन किया है—

"आय-व्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलुरेव निदर्शनम्।"

—(आचार्य सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृत, 18/6)

अर्थात् आय (आमदनी) एवं व्यय (खर्च) करने के बारे में शिक्षा लेने के लिए मुनिराज (दि० जैन साधु) के कमण्डलु को आदर्श बनाना चाहिए। अर्थात् जैसे मुनिराज के कमण्डलु में जल भरने का मुँह बड़ा होता है तथा खर्च करने का छोटा होता है; उसीप्रकार आमदनी का स्रोत व्यापक हो तथा खर्च की मर्यादा रखें; तभी व्यक्ति, परिवार और राष्ट्र उन्नति कर सकते हैं। आय से अधिक खर्च करनेवाले व्यक्ति सदैव कष्ट पाते हैं। राष्ट्र, उद्योगपति एवं गृहस्थ— तीनों के लिए कमण्डलु का यह आदर्श अपनाना चाहिये। राष्ट्र की मुद्रा पर एवं वित्तमंत्री जी के कार्यालय में कमण्डलु का चित्र इसी अभिप्राय से होना चाहिए। क्योंकि अर्थशास्त्रियों का कथन है कि आय से अधिक व्यय के कारण ही भारत की स्थिति दिन-प्रतिदिन शोचनीय होती जा रही है।

अतः अनाप-शनाप धन संग्रह करने, येन-केन-प्रकारेण धनोपार्जन करने की लालची प्रवृत्ति कभी नहीं करनी चाहिए। व्यक्ति को अपनी आवश्यकता के अनुरूप संग्रहवृत्ति करनी चाहिए, इसी भावना की कोख से 'अपरिग्रहवाद' जन्म लेता है। महान् गांधीवादी राजर्षि पुरुषोत्तम दास जी टंडन को पीने के लिए किसी से गिलास भरकर दूध दिया, तो उन्होंने मात्र छँटाक भर दूध लेकर शेष दूध यह कहकर लौटा दिया कि "मैं किसी बच्चे के हिस्से के दूध से अपनी उदरपूर्ति नहीं करना चाहता हूँ।" वे नीति के इतने पक्षधर थे कि दो पेन रखते थे, एक सरकारी काम के लिए सरकारी स्याही वाला और निजी काम के लिए अपने पैसों की स्याही वाला। आचार्य चाणक्य भी सरकारी कार्य के लिए सरकारी तेल का व निजी कार्य के लिए अपने पैसे से खरीदे तेल का दीपक जलाते थे।

धन के प्रति मर्यादा की शिक्षा ही व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के सुखी, संतोषी एवं उन्नतिशील बना सकती है। और इसके लिए मुनिराज के कमण्डलु से भी शिक्षा ली जा सकती है। इसीलिए इसे अहिंसक अर्थशास्त्र भी कहा गया है। —सम्पादक



॥ जयदु सुद-देवदा ॥

प्राकृत-विद्या
पागद-विज्जा

PRAKRIT-VIDYA
Pagad-Vijja

शौरसेनी, प्राकृत एवं सांस्कृतिक मूल्यों की त्रैमासिकी शोध-पत्रिका
The quarterly Research Journal of Shaurseni, Prakrit & Cultural Values

वीरसंवत् 2527 जुलाई-सितम्बर '2000 ई० वर्ष 12 अंक 2
Veersamvat 2527 July-September '2000 Year 12 Issue 2

आचार्य कुन्दकुन्द समाधि-संवत् 2013

मानद प्रधान सम्पादक

प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

निदेशक, कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान

Hon. Chief Editor

PROF. (DR.) RAJA RAM JAIN

Director, K.K.B. Jain Research Institute

मानद सम्पादक Hon. Editor

डॉ० सुदीप जैन

एम.ए. (प्राकृत), पी-एच.डी.

DR. SUDEEP JAIN

M.A. (Prakrit), Ph.D.

प्रकाशक

श्री सुरेश चन्द्र जैन

मंत्री

श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट

Publisher

SURESH CHANDRA JAIN

Secretary

Shri Kundkund Bharti Trust

★ वार्षिक सदस्यता शुल्क - पचास रुपये (भारत) 6.0 \$ (डालर) भारत के बाहर
★ एक अंक - पन्द्रह रुपये (भारत) 1.5 \$ (डालर) भारत के बाहर

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री

प्रो० (डॉ०) प्रेमसुमन जैन

डॉ० उदयचन्द्र जैन

डॉ० जयकुमार उपाध्ये

प्रो० (डॉ०) शशिप्रभा जैन

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० वीरसागर जैन

श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन)
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन (011) 6564510
फैक्स (011) 6856286

Kundkund Bharti (Prakrit Bhawan)
18-B, Spl. Institutional Area
New Delhi-110067
Phone (91-11) 6564510
Fax (91-11) 6856286

‘आम्नाय’ का वैशिष्ट्य

“वाचना-पृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ।”

अर्थात् वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश —ये पाँच स्वाध्याय के अंग हैं।

“अष्टस्थानोच्चारविशेषेण यच्छुद्धं घोषणं पुनः पुनः परिवर्तनं स आम्नायः कथ्यते ।”

—(आ० श्रुतसागर सूरि, तत्त्वार्थवृत्ति, नवम अध्याय, 25)

कण्ठ, तालु आदि आठ उच्चारण-स्थानों की विशेषता से जो शुद्ध घोषण/उच्चारण बारम्बार परिवर्तनपूर्वक किया जाता है, उसे ‘आम्नाय’ कहते हैं।

धन-कन-कंचन-राजसुख, सबहिं सुलभ कर जान।

दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान॥

कातन्त्रव्याकरणम्

‘कातन्त्रं हि व्याकरणं पाणिनीयेतरव्याकरणेषु प्राचीनतमम् । अस्य प्रणेतृविषयेऽपि विपश्चितां नैकमत्यम् । एवमेव कालविषये नामविषये च युधिष्ठिरो हि कातन्त्रप्रवर्तनकालो विक्रमपूर्व तृतीय-सहस्राब्दीति मन्यते ।’

—(लेखक : लोकमणिदाहलः, व्याकरणशास्त्रेतिहासः,
भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 260)

अनुक्रम

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं०
01.	सम्पादकीय : समाजधर्म	डॉ० सुदीप जैन	4
02.	बीसवीं सदी के महान् अध्यात्मक साधक आचार्य शान्तिसागर जी की सामाजिक चेतना	धर्मेन्द्र जैन	9
03.	'आदिपुराण' में बिम्ब और सौन्दर्य	विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव	14
04.	प्राकृत का लोकप्रिय छंद : गाहा	प्रो० (डॉ०) हरिराम आचार्य	23
05.	'सम्राट् खारवेल के शिलालेख' की सूत्रात्मक शैली की दृष्टि से समीक्षा	श्रीमती रंजना जैन	33
06.	हे पावन पर्यूषण ! आओ (कविता)	अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ	38
07.	दशलक्षण धर्म	डॉ० सुदीप जैन	40
08.	शिक्षा व संस्कृति के उत्थान की महान् प्रेरिका : चिरोजाबाई	श्रीमती बिन्दु जैन	46
09.	अहिंसा ही विश्व में शांति का उपाय	श्रीमती इन्दु जैन	53
10.	प्राकृतभाषा का स्वरूप एवं भेद-प्रभेदों का परिचय	श्रीमती रंजना जैन	56
11.	जैनदर्शन में 'जिन' शब्द की व्याख्या	डॉ० दयाचन्द्र साहित्याचार्य	60
12.	भाषा, विभाषा और शौरसेनी	डॉ० माया जैन	65
13.	सुयोग्द बहू	श्रीमती अमिता जैन	71
14.	प्राकृत-सट्टकों में प्रकृति-चित्रण	डॉ० धर्मचन्द्र जैन	74
15.	'पवयणसार' के मंगलाचरण का समीक्षात्मक मूल्यांकन	श्रीमती रंजना जैन	81
16.	'प्राचीन भारत' पुस्तक में कुछ और भ्रामक कथन	राजमल जैन	85
17.	आषाढी पूर्णिमा : एक महत्त्वपूर्ण तिथि	डॉ० सुदीप जैन	95
18.	पुस्तक-समीक्षा		99
19.	अभिमत		103
20.	समाचार-दर्शन		106
21.	इस अंक के लेखक-लेखिकायें		110

समाजधर्म

—डॉ० सुदीप जैन

मनुष्य को 'सामाजिक प्राणी' के रूप में आधुनिक मनीषियों ने परिभाषित किया है। किन्तु इसकी सामाजिकता का स्वरूप एवं समाज की परिभाषा विविधरूपों में मिलती है। आज की सामाजिकता का स्वरूप अपने मूल अभिप्राय से बहुत हट गया है। आज मिलने-जुलने, गोष्ठियाँ-कार्यक्रम करने को 'सामाजिक कार्यक्रम' कहा जाने लगा है। इन आयोजनों में प्रायशः राग-द्वेषवर्धक चर्चाओं की बहुलता रहती है तथा खाना-पीना, मौज-मस्ती आदि इनके अघोषित अनिवार्य अंग बनते जा रहे हैं। जबकि मूल में मनुष्य के सामाजिक होने या कहे जाने का अभिप्राय उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए पर्याप्त अवसर एवं परिस्थितियाँ प्रदान करना था और इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये भीड़-भरे एवं खर्चीले कार्यक्रमों का आयोजन प्रायशः अपेक्षित नहीं था। पारस्परिक व्यवहार में शिष्ट एवं सहयोगी बनाने के लिए तथा उन्नति की प्रेरणास्पद भावनाओं के आदान-प्रदान के लिये मनुष्य के सामाजिक-रूप की कल्पना आधुनिक मनीषियों ने की थी। प्राचीन मनीषी आचार्यों ने इस भावना को मनुष्यों तक सीमित न करके प्राणीमात्र तक के व्यापक सन्दर्भ में देखा था और इसे "परस्परपग्रहो जीवानाम्" —(तत्त्वार्थसूत्र, 5/21) जैसे मूलमन्त्र से संकेतित किया था।

चूँकि मनुष्य को संज्ञी पंचेन्द्रियना मिलने के साथ-साथ विचार, शिक्षण, संभाषण आदि के लिए अन्य समनस्क-प्राणियों की अपेक्षा अधिक अच्छी परिस्थितियाँ प्राकृतिकरूप से मिली हुई हैं; इसीकारण वह सामाजिकता को व्यापकरूप में अपना सकता है एवं उसका निर्वाह भी कर सकता है। मध्यलोक के ही अन्य समनस्क तिर्यच आदि प्राणी अपनी विचारक्षमता आदि को अधिक से अधिक पारिवारिकता या सामूहिकता में ही चरितार्थ कर पाते हैं, जिनका उद्देश्य प्रायः दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित होता है। मनुष्य इन स्थितियों से आगे दैहिक सम्बन्धों से परे आध्यात्मिक एवं वैचारिक सम्बन्धों की प्रधानता से जिस समूहदृष्टि का निर्माण करता है, उसे 'सामाजिकता' कहा गया है। इसमें दृष्टि एवं प्रयोगों की व्यापकता और उदारता मूल आधारभित्ति होती है। गुण-ग्रहण की

भावना एवं किसी भी दृष्टि से निर्बल व्यक्ति को मात्र हितकामना से मदद करना सामाजिकता को आध्यात्मिकता विकास से लेकर लोक-शिष्टाचार एवं व्यावहारिकता का व्यापक धरातल प्रदान करता है। सच्चे अर्थों में सामाजिक मनुष्य धन-वैभव आदि भौतिक वस्तुओं की अपेक्षा पारस्परिक सौहार्द और सम्मान को अधिक महत्त्व देता है और इन्हीं कार्यों से वह श्रेष्ठ बनता है। प्राकृत-साहित्य के महान् कवि शूद्रक इस विषय में लिखते हैं—

“सत्कारः खलु सज्जनः कस्य न भवति चलाचलं धनम्?
यः पूजयितुमपि न जानाति स पूजाविशेषमपि किं जानाति?”

—(मृच्छकटिकम्, 2/15)

अर्थः— दूसरों का आदर-सत्कार करना ही सज्जनों की सम्पत्ति होती है। भौतिक धन तो किसका नश्वर नहीं है? अर्थात् सभी का नश्वर ही होता है। जो व्यक्ति दूसरों का आदर-सत्कार करना नहीं जानता है, वह क्या पूजा के वैशिष्ट्य को कभी जान सकता है?

मात्र लौकिक व्यावहारिकता ही नहीं, अपितु उदात्त आध्यात्मिकता के व्यापक स्तर तक सामाजिकता को व्यावहारिकरूप में प्रस्तुत करने के लिये जैन मनीषियों ने चार प्रकार के ‘अनुराग’ की चर्चा की है— 1. धर्मानुराग, 2. भावानुराग, 3. प्रेमानुराग और 4. अस्थिमज्जानुराग। इन चार अनुरागों का उल्लेख एवं इन्हें अपना देने की प्रेरणा सर्वप्रथम इन्द्रभूति गौतमस्वामी, जिन्हें ‘भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गणधर’ के नाम से भी जानते हैं, ने ‘पडिक्कमणसुत्त’ (प्रतिक्रमणसूत्र) नामक प्राकृतग्रंथ में की है—

“से अभिमद जीवाजीव-उवलद्ध पुण्ण-पाव-आसव-बंध-संवर-णिज्जर-मोक्ख-महिकुसले धम्माणुरागरत्तो, भावाणुरागरत्तो, पेममाणुरागरत्तो, अट्ठिमज्जाणुरागरत्तो मुच्छिदट्ठे, गिहिदट्ठे, णिगंथपवयणे अणुत्तरे से अट्ठे सेवणुट्ठे।”

आचार्य शिवार्य ने इन चारों अनुरागों को जिनशासन का प्रभावना का साधन बताया है— “भावाणुराग-पेममाणुराग-मज्जाणुरागरत्तो वा।

धम्माणुरागरत्तो य होदि जिणसासणे णिच्चं।।”

—(भगवती आराधना, 736)

अर्थः— जिनशासन की प्रभावना करनेवाले व्यक्ति के भावानुराग, प्रेमानुराग, मज्जानुराग एवं धर्मानुराग —यह चार प्रकार का अनुराग नित्य वर्तमान रहता है।

आचार्य अभितगति ने इन चारों अनुरागों से युक्त व्यक्ति को ‘कुछ भी दुर्लभ नहीं’ है, ऐसा कहा है— “ये धर्म-भाव-मज्जादि-प्रेमानुराग-रज्जिताः।

जैने सन्ति मते तेषां न किञ्चिद् वस्तु दुर्लभम्।।”

—(मरणकण्डिका, 7/770)

मनुष्य को परिपूर्ण सामाजिकता प्रदान करनेवाले इन चारों अनुरागों का स्वरूप एवं

उनके प्रभावक विशिष्ट व्यक्तियों का उल्लेख आगमग्रन्थों में निम्नानुसार मिलता है—

1. धर्मानुरागी:— रत्नत्रयरूपी (सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप), अहिंसा-प्रधान एवं दयामूलक धर्म में जिसकी दृढ़श्रद्धा एवं अनुराग होता है, वह 'धर्मानुरागी' व्यक्ति है। इसे 'सर्वश्रेष्ठ अनुराग' माना गया है। समस्त आसन्न-भव्यजीवों एवं सज्जनों में यह अनुराग विशेषरूप से अवश्य ही पाया जाता है। इस भाव से अलंकृत सज्जनों में पूर्वोक्त धर्म के साथ-साथ इस धर्म के धारक धर्मात्माओं में भी विशेष अनुराग पाया जाता है और उसके पीछे धर्मलाभ एवं धर्मप्रभावना के अतिरिक्त अन्य कोई भौतिक स्वार्थ निहित नहीं होता है। धर्मानुराग को आचार्य सोमसेन त्रैविद्य ने 'अपायविचय धर्मध्यान' माना है—

“येन केन प्रकारेण जैनधर्मः प्रवर्धते । तदेव क्रियते पुंभिरपायविचयं मतम् ।”

—(1/35, पृष्ठ 10)

अर्थ:— जैसे भी संभव हो, वैसे 'जैनधर्म की प्रभावना हो' —ऐसा विचार करना 'अपायविचय धर्मध्यान' है।

2. भावानुरागी:— अच्छे कार्यों एवं अच्छा कार्य करनेवाले व्यक्तियों की प्रतिष्ठा पर कोई आँच न आने पाये —इस दृष्टि से जो निरन्तर सजग एवं प्रयत्नशील रहता है, उसे 'भावानुरागी' कहते हैं। यदि कदाचित् कोई व्यक्ति उच्च, प्रतिष्ठित पद को या वेष को धारण करके उसके प्रतिकूल निकृष्ट आचरण करे; लोकविरुद्ध, समाजविरुद्ध, धर्मविरुद्ध कार्य भी करे; तो भी 'यदि इस पद या वेष में रहते इसका अपमान हुआ, तो लोग ऐसे पद या वेष के धारक अन्य सच्चे लोगों को भी सदेह की दृष्टि से देखेंगे और उनका समुचित सम्मान नहीं करेंगे' —इस विचार से विवेकपूर्वक उसके दोष ढँकता है। 'सम्यग्दर्शन' के आठ अंगों में इसे 'उपगूहन अंग' भी कहा गया है। इसके बहाने पापाचरण को संरक्षण नहीं दिया जाता है, बल्कि धर्माचरण एवं सदाचारियों की प्रतिष्ठा की रक्षा की जाती है।

'भावानुराग' के विषय में जिनदत्त श्रेष्ठी का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। तदनुसार किसी चोर ने 'क्षुल्लक' का वेश धारण करके जिनमन्दिर से छत्र चुराकर भागना चाहा, किन्तु पकड़े जाने पर यह कह दिया कि “यह तो जिनदत्त श्रेष्ठी ने मँगवाया था, मैं तो उन्हीं के कहने पर ले जा रहा था।” बाद में माली आदि के द्वारा जिनदत्त श्रेष्ठी के सम्मुख पूरा वृत्तान्त प्रस्तुत किये जाने पर जिनदत्त श्रेष्ठी ने कहा कि “इन्हें छोड़ दो, ये निर्दोष हैं; इनसे यह छत्र मैंने ही मँगवाया था।” इसप्रकार 'जैन व्रती चोर होते हैं' —ऐसा लांछन लगने से बचा लिया। किन्तु अकेले में उस क्षुल्लकवेशधारी को चोरी जैसे दुष्कर्म के लिए वचनों से प्रताड़ित भी किया तथा व्यापार आदि के निमित्त सहायता देकर आत्मनिर्भर बनाया, ताकि उसे पुनः चोरी जैसा दुष्कर्म न करना पड़े।

3. **अस्थिमज्जानुरागी**— जैसे कोई अपनी अस्थि (हड्डी) से कभी मज्जा को अलग नहीं कर सकता है; अथवा अस्थि स्वयं मज्जा को नहीं छोड़ती है, उसीप्रकार विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी सज्जनों, साधर्मिजनों एवं धर्मात्माओं का साथ नहीं छोड़नेवाले 'अस्थिमज्जानुरागी' कहलाते हैं।

इस विषय में आचार्य अमितगति ने पाण्डवों का दृष्टान्त आदर्शरूप में प्रस्तुत किया है। जैसे पाण्डवों ने बचपन से लेकर साधना की दशा तक कभी एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ा। द्यूतक्रीड़ा में हारने पर युधिष्ठिर को भला-बुरा नहीं कहा, अपितु पाँचों भाईयों ने मिलकर वनवास भोगा तथा राज्य मिलने पर भी पाँचों भाई समान अधिकार एवं प्रेम के साथ रहे। यहाँ तक कि दीक्षाप्रसंग में भी पाँचों भाई साथ दीक्षित हुये एवं उन्होंने साथ ही 'शत्रुंजयगिरि' पर तपस्या की। संसार से लेकर मोक्षमार्ग तक अटूट सम्बन्ध का इससे अधिक अनुकरणीय दृष्टान्त और क्या हो सकता है? विशेषतः इस युग में, जब जरा-जरा बात के लिए भाई-भाई में कोर्ट-कचहरी एवं कहा-सुनी की नौबत आ जाती है, यहाँ तक कि मारपीट एवं अन्य आपराधिक घटनायें भी घट जाती हैं; समाज के लोगों के लिए पाँचों पाण्डवों के 'मज्जानुराग' का अनुकरण पारिवारिक एवं सामाजिक संघटनात्मक ढाँचे को सुदृढ़ एवं आदर्श बना सकता है।

4. **प्रेमानुरागी**— सामान्यतः संसारी प्राणी अन्य सांसारिक संबंधियों एवं वस्तुओं के प्रति अनुरक्ति/आकर्षण को 'प्रेम' की संज्ञा देते हैं; किंतु इसको इन चारों अनुरागों में कहीं कोई स्थान नहीं दिया गया है। इसके विपरीत भौतिक विषयभोगों से हटाकर आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर दृढ़ करने को ही यहाँ 'प्रेम' माना गया है और इसे चरितार्थ करनेवाले महानुभाव को 'प्रेमानुरागी' कहा गया है।

इस विषय में आचार्यदेव ने 'मणिचूल' नामक देव एवं 'सगर चक्रवर्ती' का दृष्टान्त दिया है। मणिचूल देव अपने मित्र सगर चक्रवर्ती को सांसारिक विषय-भोगों एवं राजपाट से विरक्त हो संयम अंगीकार करने की बार-बार प्रेरणा देता था; किन्तु चक्रवर्ती के भोगों एवं सुख-सम्पत्ति में सगर का मन ऐसा रमा हुआ था, कि वह उसकी एक भी बात पर ध्यान नहीं देता था। तो मणिचूल देव ने चक्रवर्ती सगर को संसार से विरक्त करने के लिए एक चाल चली। उसने सगर चक्रवर्ती के सारे पुत्रों को अपनी शक्ति से मूर्च्छित कर दिया। सगर चक्रवर्ती ने उन्हें मरा हुआ जानकर संसार की क्षणभंगुरता का चिन्तन करते हुए वैराग्य अंगीकार कर लिया। तत्पश्चात् मणिचूल नामक उस देव ने उन पुत्रों को पुनः स्वस्थ कर दिया। इसप्रकार कृत्रिम जीवनभय आदि दिखाकर मणिचूल देव ने अपने मित्र सगर चक्रवर्ती को जिस तरह वैराग्य-मार्ग पर स्थिर किया — उसे 'प्रेमानुराग' का आदर्शरूप माना गया है। इसे ही सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में 'स्थितिकरण अंग' भी कहा गया है।

इनके अतिरिक्त निस्पृह साधकों से लेकर सामान्य सज्जनों तक सभी के लिये

उपयोगी एवं इन चारों अनुरागों का साधक एक और अनुराग भी होता है, जिसे 'आत्मानुराग' कहा गया है। 'आत्मानुरागी' सज्जन आत्मिक परिष्कार/सुधार के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। इसकी प्रेरणा देते हुये ज्ञानीजन लिखते हैं—

“आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञानवारिणा चारुणा ।

येन निर्मलतां याति जनो जन्मान्तरेष्वपि ।।” —(सारसमुच्चय)

अर्थ:— अपने आत्मतत्त्व को सम्यग्ज्ञानरूपी निर्मल जल से निरन्तर प्रक्षालित करते रहना चाहिये। ऐसा करने से यह जीव जन्मान्तरों तक निर्मलता को प्राप्त रहता है।

आज उत्तरोत्तर संकीर्ण एवं पथच्युत होते जा रहे सामाजिक ढाँचे में सामाजिकता के इन मूलभूत तत्त्वों का चिंतन हमें पुनः एक नयी ऊर्जा, नयी स्फूर्ति के साथ उन्नति के पथ पर अग्रसर होने में मदद करेगा और साथ ही सम्पूर्ण मानव-समुदाय के साथ-साथ प्राणीमात्र को एक उज्ज्वल भविष्य का पथप्रदर्शन करेगा। यदि हमारे मन में प्राणीमात्र के प्रति ऐसी उदात्त भावनायें आ जायेंगी, तो हम विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी अनुकूलता का अनुसंधान कर सकेंगे।

यहाँ एक विचारार्थ उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हूँ। सिंहनी जैसी क्रूरसत्त्वा अपने शावक उसी जबड़े में पकड़ती है, जिससे वह अन्य प्राणियों को नृशंसतापूर्वक वध करती है; फिर भी अपनत्व के कारण उस शावक को उसी जबड़े में पकड़े जाने पर भी जरा भी कष्ट नहीं होता, कहीं खरोच तक नहीं आती है। ध्यान रखें, जबड़ा वही है, किंतु अनुराग के कारण वही भक्षक के स्थान पर रक्षक बन सकता है। यदि हम ऐसे ही उदार अनुराग भावना का प्रसार करेंगे, तो सर्वत्र सौहार्द एवं उल्लास के वातावरण में सदगुणों एवं सद्भावनाओं का प्रसार होगा।

हाल के लगभग 100 वर्षों में ऐसे कई समाजशास्त्री महानुभाव इस देश में जैनसमाज में भी हुए हैं, जिन्होंने अपने यशस्वी कार्यों से सामाजिक संघटना के पूर्वोक्त चारों अनुरागों को चरितार्थ करके दिखाया था। उनसे अन्य शास्त्राभ्यासी विद्वानों की तुलना में समाज में सामाजिक सौहार्द का वातावरण-निर्माण तथा धर्मप्रभावना का कार्य अधिक परिमाण में तो हुआ ही, उसकी सर्वमान्यता एवं निर्विवादता भी रही। ऐसे अकृत्रिम वात्सल्य के धनी मनीषी समाजवेत्ताओं में स्वनामधन्य क्षु० गणेश प्रसाद जी वर्णी, पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ, पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य, पं० जगन्मोहनलाल जी शास्त्री आदि प्रमुख रहे। वर्तमान में इसी क्रम में वयोवृद्ध विद्वान् पं० नाथूलाल जी संहितासूरि, इन्दौर (म०प्र०) अग्रगण्य हैं। इनका जीवन हमें उक्त चारों अनुरागों के अनुपालन एवं समाज के प्रति दायित्वों को भली-भाँति अभिव्यक्त करने के लिये अनुपम आदर्श है।

सामाजिकता के इस आध्यात्मिक उत्कर्ष को समझकर एवं अपनाकर ही हम अपने आपको सही अर्थों में 'सामाजिक' कहलाने के अधिकारी बन सकते हैं। ❖❖

बीसवीं सदी के महान् अध्यात्म साधक आचार्य शान्तिसागर जी की सामाजिक चेतना

—धर्मेन्द्र जैन

बीसवीं शताब्दी में लुप्तप्रायः हो गयी दिगम्बर जैन श्रमण-परम्परा को जिन्होंने पुनरुज्जीवित किया और युगानुरूप शास्त्रानुकूल प्रयोगों के द्वारा उसे एक नई दिशा देने का महनीय कार्य जिनके पावन श्रामण्य में सम्पन्न हुआ, —ऐसे महान् तपस्वी साधक आध्यात्मिक प्रज्ञाश्रमण प्रातःस्मरणीय आचार्यश्री शान्तिसागर जी मुनिराज के पुण्यश्लोक जीवनदर्शन के बारे में शोधार्थी विद्वान् लेखक के द्वारा लिखा गया यह आलेख इन्हीं आचार्यश्री शान्तिसागर जी मुनिराज की परम्परा के श्रमणों एवं श्रावकवर्ग —दोनों के लिए संभवतः कतिपय आत्ममंथन के विचारबिन्दु दे सकेगा —इसी आशा के साथ यहाँ प्रस्तुत है।

—सम्पादक

मानव के देह में जो महत्त्व आत्मा का है, वही महत्त्व आत्मसाधना में लीन आत्मनिष्ठ महात्माओं का स्थान समाज में है। व्यक्तिगत जीवन में जैसे आत्मा व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन करता है, वैसे ही समाज का पथ-प्रदर्शन आत्मनिष्ठ महापुरुष करते हैं। धर्म और समाज की मर्यादा ऐसे महात्माओं पर ही निर्भर है। उनका त्याग-तपस्यामय परमप्रबल जीवन, जब सत्य और अहिंसा को अपने में तन्मय कर लेता है, तब वह तेजोमय प्रकाश का ऐसा पुंज बन जाता है कि उससे चारों ओर स्वतः ही प्रकाश फैल जाता है। मोह-माया-ममता से वे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। अज्ञान-पक्षपात का अन्धकार उनके आसपास कहीं नहीं रहता। सभी धर्मों एवं समाजों में ऐसी व्यवस्था पाई जाती है कि उनमें एक न एक वर्ग ऐसा होता ही है, जिसका काम मुख्यतः समाज में धर्म की व्यवस्था को कायम करना होता है। जैन मुनि और आचार्य इसी लोकोत्तर कोटि के महापुरुष हैं। समाज की उन पर अपार श्रद्धा का कारण भी यही है कि उनके लोकोत्तर जीवन में अंशमात्र भी राग-द्वेष-हिंसा-ईर्ष्या और विरोधभाव नहीं रहता। जैसा कि आचार्य अमृतचंद्रदेव ने कहा है—“मुनीनां अलौकिकी वृत्तिः” मुनियों की अलौकिकी प्रवृत्ति होती है।

साधु का जीवन स्व और पर उपकार के लिए होता है। साधु का स्वात्मध्यान में निष्ठ रहना स्वोपकार है। जब वह आत्मध्यान से बाहर आता है, तो पर कल्याण की

भावना तथा उसकी यथायोग्य अभिव्यक्ति करता है। इसीकारण दिगम्बर साधु त्रिकाल सामायिक के क्रम में सामायिक-आत्मध्यान के अनन्तर—

“सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदम्, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।

मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥”

—पढ़कर परकल्याण की अभिव्यक्ति भावों द्वारा व्यक्त करता है। इसका आधार समाज है। समाज में उच्च-आदर्श साधु ही होता है। जब-जब भी समाज में नैतिक पतन, भ्रष्टाचार आदि होता है, उस समय ऐसे पथप्रदर्शक समाज में आदर्श रूप में प्रगट होते हैं। आगमोक्त दिगम्बर साधु की कथनी और करनी एक होने से समाज-सुधार में अमोघ प्रभाव पड़ता है। ऐसे ही उच्च-आदर्श के प्रतिमूर्ति चरित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी मुनिराज का इस बीसवीं सदी के प्रारंभ में दक्षिण भारत के कर्नाटक राज्य के बेलगांव जिले के 'येलवुड' गाँव में वि०सं० 1929 (ई० सन् 1873) में प्रादुर्भाव हुआ। आपकी विद्यालयी-शिक्षा मात्र कक्षा तीन तक ही हुई। तत्कालीन भारत में बालविवाह प्रथा होने से 9 वर्ष की उम्र में विवाह हो गया। षण्मास के बाद पत्नि-विरह हो गया। यह सर्वदा का वियोग ही वैराग्यजनक हुआ। गार्हस्थ्य जीवन-यापन करते हुए भी एकाकी होने से अध्यात्म-साधना प्रारम्भ की। अध्यात्म-साधना की परिपक्वता-हेतु 45 वर्ष की वयः में ही जैनेश्वरी-प्रव्रज्या अंगीकार की, मानो स्व-पर कल्याण के लिए ही कमर कसी हो। जिनमुद्रा में रहते हुए भी आचार्यश्री ने भारत के अनेक राज्यों में पदयात्रा करते हुये उपदेशों द्वारा अध्यात्म-जगत् के साथ-साथ सामाजिक-संसार में भी नई चेतना का संचार किया, जिससे तत्सामयिक देश में सभ्यता और संस्कृति का उन्नयन हुआ। ऐसे उपक्रम अनेक थे, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

शूद्र-उद्धार :— भारत में उस समय शूद्रों के प्रति अस्पृश्य की भावना बहुत थी, तब महाराज श्री ने उपदेश दिया कि “इन शूद्रों को शूद्र न समझो, ये अपने ही समान जीवनधारी प्राणी हैं।” हरिजनों के बारे में कहा कि— “उनके साथ खाने-पीने से उनका उद्धार नहीं होगा, अपितु अपने समान उन्हें जीवन जीने के साधन उपलब्ध कराओ, सदाचार पथ में आरुढ़ करो तथा उनकी आजीविका की व्यवस्था करने से 'शूद्र-उद्धार' अभियान सफल होगा।”

व्यसन-मुक्ति :— अपने विहारकाल में आपने सहस्रों लोगों को व्यसनमुक्त कराया। आत्मीय स्नेह से समझाकर मद्य-मांस, बीड़ी, तम्बाकू पीने का त्याग कराया। जनवरी 1957 में संभलपुर जाते समय रायपुर (जो कि अब नवगठित राज्य 'छत्तीसगढ़' की राजधानी है) में हजारों आदिवासियों ने आपके उपदेशों से प्रभावित होकर मांस खाना, शराब पीना, शिकार खेलना त्याग दिया। वि०सं० 1991 में उदयपुर जिले के धरियावद-नरेश श्री रावजी खुमान सिंह जी ने आपके सदुपदेश से आजीवन शिकार का त्याग किया,

साथ में उनकी माता और धर्मपत्नी ने तथा हजारों आदिवासियों ने मद्य-मांस का त्याग किया।

रुद्रियों का अन्त :— धर्म के नाम पर बलि में जो हिंसा होती थी, वह कई जगह आपके सदुपदेशों से बन्द हुई। यद्यपि ऐसा कई जगह हुआ; किन्तु विस्तारभय से दो घटनाओं का मात्र उल्लेख है—

1. वि०सं० 1985 में (म०प्र०) कटनी के पास 'ढूढा' गाँव में 20 स्त्रियों ने एक साथ आचार्यश्री की प्रेरणा से देवी पर बलि-हिंसा का त्याग किया।

2. राजस्थान उदयपुर जिले के धरियावद रावजी ने वि०सं० 1991 में दशहरे पर धर्म के नाम पर होने वाली बलि-हिंसा का सदा के लिये त्याग किया।

नैतिक पतन के कारण समझाना एवं उनसे बचने के सुझाव :— वे कहते थे कि "भारत के लोगों का नैतिक स्तर गिरने का कारण सन्मार्ग छोड़ कुमार्ग पर चलना है। कुमार्ग का तात्पर्य आज के लोगों ने हिंसा-झूठ, चोरी, कुशील और अतिलोम को अपना जीवन बना लिया है। सन्मार्ग को अपनाने से यह स्थिति पुनः सुधर सकती है। स्वयं सरकार को इस दिशा में आगे बढ़ना चाहिए, यथा राजा तथा प्रजा। यदि सरकार कानूनन पञ्च पापों का त्याग अनिवार्य कर दे और स्वयं शासकगण सन्मार्ग ग्रहण करें, तो साधारण जनता भी कुमार्ग छोड़ सन्मार्ग में प्रवृत्त हो जायेगी। यदि सरकार ऐसा करे, तो मेरा (आचार्य शातिसागर जी) दृढ़विश्वास है कि देश के सभी कष्ट दूर हो जायेंगे। बरसात का न होना, अन्न की कमी, प्राकृतिक उत्पात आदि कोई भी संकट नहीं रहेगा तथा प्रजा का कल्याण होगा।" इसी प्रसंग में उन्होंने कहा— "गाँधी जी ने मात्र अहिंसा का आंशिक पालन किया व करवाया, जिसके फलस्वरूप स्वराज्य मिला। यदि पाँचों पापों का सम्पूर्ण त्याग किया जाये, तो क्या मानव के सभी कष्ट दूर होकर सम्पूर्ण सुख नहीं मिल सकता? इससे अवश्य ही सर्वत्र सुख और शान्ति का साम्राज्य हो सकता है।"

स्त्री-शिक्षा :— उन्होंने इस विषय में कहा कि "महिलाओं को विद्याग्रहण करने व जीविकोपार्जन करने का अधिकार है। स्वयं के निर्वाह के लिये स्त्री डॉक्टर, अध्यापकी जैसे कार्य कर सकती है।" इसमें आचार्यश्री की दूरदर्शिता लक्षित होती है; क्योंकि महिलाओं में सहज वात्सल्य एवं विनम्रता होती है, अतः नारी विद्यार्थी को वात्सल्य-प्रेम के साथ शिक्षा ग्रहण करा सकती है। तथा रोगी की भी स्नेह के साथ चिकित्सा कर सकती है; इसी कारण आचार्य श्री ने स्त्रियों के लिये इन दो प्रकार की जीविका पर बल दिया।

युद्ध का खतरा - कुविद्या का दुष्फल :— आधुनिक विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप ऐसे शस्त्रास्त्र बन गये हैं, जिनके प्रयोग से सारी मानव-जाति को एक साथ नष्ट करने की कल्पना की जा रही है। इस विषय में आचार्यश्री ने कहा— "यह सब कुविद्या है, चोर-बुद्धि है। एक बम से अचानक हजारों लोगों के प्राण लेना कोई वीरता

तो नहीं है, यह तो कायरता है। पहले भी राजा लोग युद्ध करते थे, पर उनमें कुछ नियमों का पालन किया जाता था। निश्चित समय पर समान-शक्ति के विपक्षियों के साथ आमने-सामने युद्ध होता था, वह वीरों का ढंग था। आजकल की प्रणाली कायरों की प्रणाली है। पञ्च पाप ही इस कुविद्या का मूल है। इन पाँच पापों का त्याग ही मानव-जाति के रक्षा का एकमात्र मार्ग है। यदि कोई एक राष्ट्र इन पञ्च महापापों का त्याग कर दे, तो वह स्वयं इस कुविद्या के प्रपञ्च से बच जायेगा। फिर संसार-भर के बम भी उस पापहीन राष्ट्र को हानि नहीं पहुँचा सकते हैं। और भी कहा— उन्नति की बड़ी-बड़ी योजनाओं से, सुन्दर प्रस्तावों से विश्व का कल्याण नहीं होता। संसार के जीव अथवा उनके समुदाय रूप राष्ट्र तभी सुखी होंगे, जब वे हिंसा-लंपटता- झूठ-चोरी तथा अधिक तृष्णा का त्याग करेंगे, तब ही आनंद और शांति का साम्राज्य संभव होगा।

गरीबी का सफल इलाज :— आज जगत् में कोई गरीबी के कारण दुःखी है, वह धनवान् को सुखी देखकर अन्तर्दाह से संतप्त होता हुआ उसके समान सम्पत्तिशाली बनना चाहता है। उसके लिये कोई यह उपाय सोचते हैं कि उस धनी के धन को छीन लिया जाये, बस इसके सिवाय निर्धनता दूर करने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य शान्तिसागर जी ने मार्मिक शिक्षा दी — “गरीबी के संताप को दूर करने के लिये हिंसा-झूठादि पापों का परित्याग कर दयामय जीवन व्यतीत करना है।” गरीब दो प्रकार के हैं— 1. जो हृष्ट-पुष्ट गरीब आजीविका-विहीन हैं, उन्हें आजीविका का साधन उपलब्ध कराना चाहिये। 2. जो गरीब अंगहीन है, अतिबालक, अतिवृद्ध हैं, जिनमें कमाने की शक्ति नहीं है, उनका रक्षण करना चाहिये।

“जगत् में रूप, विद्या, धन में से कोई भी एक विशेषता होती है, तो जीव आदर को प्राप्त करता है, किन्तु तीनों विशेषताशून्य सर्वत्र तिरस्कार का पात्र बनता है” —आचार्यश्री के इस कथन से भाव प्रकट होता है, कि गरीब को विद्यार्जन करना चाहिये। गरीबी दूर करने का उपाय धन की छीना-झपटी, कलह, अनैति तथा अत्याचार नहीं है; बल्कि उसका प्रशस्तमार्ग है— इन्द्रियों का निग्रह और संयम की साधना। पवित्र पुरुषार्थ के द्वारा सुख पाना हमारे हाथ में है। विपत्ति के आने पर भी हिम्मत हारना सच्चे पुरुषार्थी का धर्म नहीं है।

राज्यधर्म पर प्रकाश :— राज्यधर्म के सम्बन्ध में पूज्य आचार्यश्री के तर्कसंगत शुद्ध विचार थे— “रामचन्द्र आदि ने राज्य किया था। उनका चरित्र राजकीय जीवन में अनुकरणीय है। जब दुष्टजन राज्य पर आक्रमण करें, तब शासक को प्रतिकार करना पड़ता है, यह भले ही करें; किन्तु दूसरे राज्य को छीनने के लिए किसी भी पर आक्रमण नहीं करना चाहिये। निरपराध प्राणी की रक्षा करनी चाहिये। राजा का कर्तव्य है कि बुद्धिपूर्वक की जानेवाली हिंसा को बंद करें। शिकार स्वयं न खेले और न दूसरों की

अनुमोदना करें। देवताओं के लिये जीव के बलिदान को बन्द करावें। शराब पीना, मांस-भक्षण बन्द करावें। परस्त्री-अपहरण को रोकें। राजनीति में राजा अपने पुत्र को भी दण्ड देता है। सज्जन का पालन और दुर्जन का निग्रह करना राजनीति है। पञ्च पाप अधर्म हैं, इनका त्याग धर्म है। अधर्म ही अन्याय है। जिस राजा के शासन में प्रजा नीति से चले उस राजा को पुण्य प्राप्त होता है। अनीति से राज्य करने पर उसे पाप होता है। राजनीति वह है कि राजा राज्य भी करें और धर्म भी कमावें।”

शौरसेनी प्राकृतभाषा की प्राचीन पाण्डुलिपियों का संरक्षण :— आचार्यश्री की प्रेरणा एवं उपदेश से शौरसेनी प्राकृत का प्राचीनतम ग्रन्थ धवला-जयधवला-महाधवला टीका समन्वित ‘छक्खंडागमसुत्त’, जो कर्नाटक राज्य के ‘मूडबिद्री’ के विशाल ताड़पत्रीय संग्रहालय में जीर्ण-शीर्ण हो रहा था, को संरक्षण प्राप्त हुआ। बाद में उसकी स्थायी रक्षा की दृष्टि से उसे ताम्रपत्र पर अंकित करवाया; क्योंकि उस समय छपाई-प्रकाश आदि का प्रचार नगण्य था। प्रकाशन का युग आने पर वह महाराष्ट्र-सोलापुर से प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त भी अन्यान्य कई पाण्डुलिपियों का संरक्षण आपके उपदेशों से विद्वानों द्वारा संपन्न हुआ।

इसप्रकार इनके जीवन के राष्ट्र तथा समाजोत्थान के कार्य-सम्बन्धी विवरण प्राप्त कर तत्कालीन देश के उपराष्ट्रपति एवं महान् दार्शनिक डॉ० एस० राधाकृष्णन् ने उद्गार व्यक्त किये कि “आचार्य श्री शान्तिसागर जी भारत की आत्मा के प्रतीक हैं तथा ऐसे लोग हमारे देश की आत्मा के मूर्तस्वरूप होते हैं।”

आचार्यश्री का देश तथा समाज के प्रति किया गया यह उपकार चिरस्मरणीय है। ऐसे सन्त-पुरुष को हम कोटि-कोटि वंदन करते हैं।

सन्दर्भग्रंथ-सूची

1. ‘चारित्र चक्रवर्ती’, ले० — पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर।
2. ‘जैनगजट’, आचार्य शान्तिसागर हीरक जयन्ती विशेषांक। सं० — पं० अजित कुमार शास्त्री।
3. ‘जैनगजट’, आचार्य शान्तिसागर जी की अमर-सल्लेखना विशेषांक। सं० — पं० अजित कुमार शास्त्री।
4. आचार्य शान्ति सागर स्मृतिग्रंथ, सं० — 1. श्री बालचंद देवचंद शाह। 2. श्री मोतीलाल मुलकचंद दोशी।



बुद्धि की महत्ता

‘जीवत्यर्थ-दरिद्रोऽपि, धी-दरिद्रो न जीवति।’ — (क०स०सा० 10.8.42)

धनहीन व्यक्ति जी सकता है; किन्तु बुद्धिहीन व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता है। * *

‘आदिपुराण’ में बिम्ब और सौन्दर्य

—विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सुरिदेव

महाकवि आचार्य जिनसेन द्वितीय (ई० सन् की आठवीं-नवीं शती) द्वारा प्रणीत आदि तीर्थंकर ऋषभदेव स्वामी के महिमाशाली जीवन की महागाथा से सन्दर्भित महाकाव्य आदिपुराण का बिम्ब-विधान और सौन्दर्य-चेतना की दृष्टि से अध्ययन अतिशय महत्त्वपूर्ण है। महाकवि जिनसेन की यह कालोत्तीर्ण पौराणिक काव्यकृति बिम्ब और सौन्दर्य जैसे भाषिक और साहित्यिक कला के चरम विकास के उत्तमोत्तम निदर्शनों का प्रशस्य प्रतीक है।

बिम्ब— वस्तुतः बिम्ब-विधान कल्पना तथा वाग्वैदग्ध्य का काव्यात्मक विनियोजन है। वाक्प्रयोग की कुशलता या दक्षता ही वाग्वैदग्ध्य है। जिस काव्य में वाग्वैदग्ध्य का जितना अधिक विनियोग रहता है, वह उतना ही अधिक भावप्रवण काव्य होता है और भावप्रवणता कल्पना की उदात्तता पर निर्भर होती है। भावप्रवणता से उत्पन्न कल्पना जब मूर्तरूप धारण करती है, तब बिम्बों की सृष्टि होती है। इसप्रकार बिम्ब कल्पना का अनुगामी होती है।

बिम्ब-विधान कलाकार या काव्यकार की अमूर्त सहजानुभूति को इन्द्रियग्राह्यता प्रदान करता है। अतः बिम्ब को कल्पना का पुनरुत्पादन (‘री-प्रोडक्शन’) कहना युक्तियुक्त होगा। कल्पना से यदि सामान्य और अमूर्त या वैचारिक चित्रों की उपलब्धि होती है, तो बिम्ब से विशेष और मूर्त या वास्तविक चित्रों की। आदिपुराण में अनेक ऐसे कलात्मक चित्र हैं, जो अपनी काव्यगत विशेषता से मनोरम बिम्बों की उद्भावना करते हैं। इस महनीय महाकाव्य में कल्पनिक और वास्तविक दोनों प्रकार की अनुभूतियों से बिम्बों का निर्माण हुआ है। इस क्रम में महाकवि जिनसेन ने बिम्ब-निर्माण के कई प्रकारों का आश्रय लिया है। जैसे— कुछ तो दृश्य के सादृश्य के आधार पर निर्मित हैं और कुछ संवेदन या तीव्र अनुभूति की प्रतिकृति या समानता पर निर्मित हुए हैं। इसीप्रकार कतिपय बिम्ब किसी मानसिक अवधारणा या विचारणा से निर्मित हुए हैं, तो कुछ बिम्बों का निर्माण किसी विशेष अर्थ को द्योतित करनेवाली घटनाओं से हुआ है। पुनः कुछ बिम्ब उपमान या अप्रस्तुत से, तो कुछ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पक्षों पर लागू होने वाले श्लेष से निर्मित हुए हैं।

कल्पना की इन्द्रिय-ग्राह्यता की भाँति ही बिम्ब भी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों, जैसे— चक्षु, घ्राण, श्रवण, स्पर्शन और आस्वाद आदि से निर्मित होते हैं। युगचेता महाकवि आचार्य जिनसेन द्वारा प्रस्तुत बिम्बों के अध्ययन से उनकी प्रकृति के साथ युग की विचारधारा का भी पता चलता है। कुल मिलाकर 'बिम्ब' एक प्रकार का रूप-विधान है और रूप का ऐन्द्रिय आकर्षण ही किसी कवि या कलाकार को बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित करता है। रूप-विधान होने के कारण ही अधिकांश बिम्ब दृश्य अथवा चाक्षुष होते हैं।

महाकवि आचार्य जिनसेन द्वारा आदिपुराण के चतुर्थ पर्व में वर्णित जम्बूद्वीप के 'गन्धिल' देश का बिम्ब-विधान द्रष्टव्य है :—

यत्रारामाः सदा रम्यास्तरुभिः फलशालिभिः ।
 पथिकानाह्वयन्तीव परपुष्टकलस्वनैः ॥
 यत्र शालिवनोपान्ते खात् पतन्तीं शुकावलीम् ।
 शालिगोप्योऽनुमन्यन्ते दधतीं तोरणश्रियम् ॥
 मन्दगन्धवहाधूताः शालिवप्राः फलानताः ।
 कृतसंराविणो यत्र छोत्कुर्वन्तीव पक्षिणः ॥
 यत्र पुण्ड्रेक्षुवाटेषु यन्त्रचीत्कारहारिषु ।
 पिबन्ति पथिकाः स्वरं रसं सुरसमैक्षवम् ॥

—(श्लोक संख्या 59, 61-63)

अर्थात् जिस देश के उद्यान फलशाली वृक्षों से सदा रमणीय बने रहते हैं तथा उनमें कूकती कोकिलें अपने मधुर स्वरों से पथिकों का आह्वान करती-सी लगती हैं।..... जिस देश में फसल की रखवाली करनेवाली स्त्रियाँ धान के खेतों में आकाश से उतरने वाले तोतों के झुण्ड को हरे रंग की मणियों का तोरण समझती हैं। खेतों में पके फलों के बोझ से झुकी धान की बालियाँ जब मन्द-मन्द हवा से झलझलाती हुई हिलती हैं, तब वे ऐसी लगती हैं, जैसे पकी फसल खाने को आये पक्षियों को उड़ाकर भगा रही हैं। और, जिस देश में रस पेरने वाले कोल्हू की चूँ-चूँ आवाज से मुखरित ईख के खेतों में जाकर पथिक मीठे इक्षुरस का पान करते हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ से गन्धिल देश के कई भावचित्रों का विनियोग हुआ है। प्रथम चित्र में फलशाली वृक्षों द्वारा कोकिलों की कूक के माध्यम से पथिकों को आवाज देकर बुलाने के भाव का अंकन हुआ है। इसमें मनोरम गतिशील चाक्षुष बिम्ब के साथ ही कोकिल की कूक जैसे श्रवण बिम्ब में दृश्य के सादृश्य के आधार पर रूप-विधान तो हुआ ही है, उपमान या प्रस्तुत के द्वारा भी वानस्पत्य बिम्ब का हृदयस्पर्शी निर्माण हुआ है। इसमें वास्तविक और काल्पनिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों से निर्मित सौन्दर्यबोधक बिम्ब सातिशय कला-रुचिर है।

यथा प्रस्तुत द्वितीय चित्र में तोतों के झुण्ड का सादृश्य हरे रंग की मणियों के तोरण से उपस्थित किया गया है, जिसमें मूर्त या प्रस्तुत के अमूर्तीकरण या अप्रस्तुतीकरण के माध्यम से मनोरम चाक्षुष बिम्ब का विधान हुआ है; और फिर तृतीय चित्र में मन्द-मन्द हवा से हिलती-बजती धान की बालियों में ध्वनि-कल्पना से प्रसूत चामत्कारिक श्रावण बिम्ब के साथ ही फसल चुगने वाले पक्षियों को उड़ाने जैसे गतिशील चाक्षुष बिम्ब का उद्भावन किया गया है। पुनः चतुर्थ चित्र में पथिकों द्वारा मधुर इक्षुरस पीने के वर्णन के माध्यम से आह्लादक आस्वादमूलक बिम्ब की निर्मिति की गई है।

इसी क्रम में आदिपुराण महाकाव्य के 'षष्ठ पर्व' में वाग्विदग्ध महाकवि जिनसेन की उदात्त कल्पना द्वारा निर्मित जिनमन्दिर का चाक्षुष स्थापत्य-बिम्ब दर्शनीय है :

यः सुदूरोच्छ्रितैः कूटैर्लक्ष्यते रत्नभासुरैः ।
पातालादुत्फणस्तोषात् किमप्युद्यन्निवाहिराद् ॥
यद्वातायननिर्याता धूपधूमाम्बुकासिरे ।
स्वर्गस्योपायनीकर्तुं निर्मिमाणा घनानिव ॥
यस्य कूटटालग्नाः तारास्तरलरोचिषः ।
पुष्पोपहार - सम्मोह - मातन्वन्नभोजुषाम् ॥
सद्वृत्त-संगताञ्चित्र-सन्दर्भ-रुचिराकृतिः ।
यः सुशब्दो महान्मह्यां काव्यबन्ध इवाबभौ ॥

—(श्लोक-संख्या, 180, 185-87)

अर्थात् रत्नों की किरणों से सुशोभित उन्नत शिखरों वाला वह जिनमन्दिर ऐसा दिखाई पड़ता था, जैसे फण उठाये शेषनाग पाताललोक से निकला हो। उस मन्दिर के वातायनों से निकलते मेघाकार धूप के धूम ऐसे लगते थे, जैसे वे स्वर्ग को उपहार देने के लिए नवीन मेघों की रचना कर रहे हों। पुनः उस मन्दिर के शिखरों के चारों ओर चमकते तारे देवों के लिए पुष्पोपहार का भ्रम उत्पन्न कर रहे थे। उस जिनमन्दिर में सद्वृत्त या सम्यक्चारित्र के धारक मुनियों का निवास था, वह अनेक प्रकार के चित्रों से सुशोभित और स्तोत्र-पाठ आदि के स्वर से मुखरित था। इसप्रकार वह पूरा जिनमन्दिर महाकाव्य की तरह प्रतीत होता था।

यहाँ महाकवि ने जिनमन्दिर को महाकाव्य से उपमित किया है। इस सन्दर्भ में जिनमन्दिर के जो चित्र प्रस्तुत हुए हैं, उनमें प्रथम चित्र में उपमान और उत्प्रेक्षाश्रित इन्द्रियगम्य सर्पराज शेषनाग का बिम्ब उद्भावित हुआ है। फण उठाये शेषनाग का भयोत्पादक बिम्ब प्रत्यक्ष रूप-विधान का रोमांचक उदाहरण है। पूरे जिनमन्दिर की चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने में महाकवि द्वारा संश्लिष्ट बिम्बों की रम्य-रुचिर योजना हुई है। मन्दिर की खिड़कियों से निकलते धूप के धूम का सादृश्य स्वर्ग के लिए

उपहार-स्वरूप निर्मित नवीन मेघ से उपन्यस्त किया गया है, जिससे उपमामूलक परम रमणीय चाक्षुष बिम्ब का मनोहारी दर्शन सुलभ हुआ है। पुनः महाकाव्य से मन्दिर के सादृश्य में भी श्लेषगर्भ और उपमामूलक चाक्षुष बिम्ब की छटा दर्शनीय है; क्योंकि महाकाव्य में भी सद्वृत्त, यानी पिंगलशास्त्रोक्त समस्त सुन्दर छन्दों की आयोजना रहती है, चित्रकाव्यात्मक (मुरजबन्ध, खड्गबन्ध, पद्मबन्ध आदि) श्लोकों की प्रचुरता रहती है और फिर रमणीयार्थ— प्रतिपादक शब्दों की भी आवर्जक योजना रहती है; इसप्रकार उक्त जिनमन्दिर महाकाव्य जैसा प्रतीत होता था।

महाकवि जिनसेनकृत नख-शिख-वर्णन में तो विविध बिम्बों का मनमोहक समाहार उपन्यस्त हुआ है। इस क्रम में 'महावत्सकावती' देश के राजा सुदृष्टि के पुत्र सुविधि के नख-शिख (द्र० दशम पर्व) या फिर ऋषभदेव स्वामी की पत्नियों — सुनन्दा तथा यशस्वती के नख-शिख के वर्णन (द्र० पञ्चदश पर्व) विशेषरूप से उदाहरणीय हैं। इसीप्रकार महाकवि-कृत विजयार्ध-पर्वत के वर्णन में भी वैविध्यपूर्ण मनोहारी बिम्बों का विधान हुआ है। गरजते मेघों से आच्छादित इस पर्वत की मेखला के चित्र में जहाँ श्रावक बिम्ब का रूप-विधान है, तो इस पर्वत के वनों में भ्रमराभिलीन पुष्पित लताओं से फैलते सौरभ में विमोहक घ्राण-बिम्ब का उपन्यास हुआ है (द्र० अष्टादश पर्व)।

उक्त पर्वत की नीलमणिमय भूमि में प्रतिबिम्बित भ्रमणशील विद्याधरियों के मुख-पद्म पर्वत-भूमि में उगे कमलों जैसे लगते थे। या फिर पर्वत की स्फटिकमणिमय वेदिकाओं पर भ्रमण करती विद्याधरियों के पैरों में लगे लाल महावर के चिह्नों से ऐसा लगता था, जैसे लाल कमलों से उन वेदिकाओं की पूजा की गई हो (द्र० तत्रैव, श्लोक संख्या 158-59)। इस वर्णन में महाकवि का सूक्ष्म वर्ण-परिज्ञान या रंग-बोध देखते ही बनता है। रंग-बोध की इस सूक्ष्मता से यथा प्रस्तुत रूपवती सुकुमारी विद्याधरियों के चाक्षुस बिम्ब में ऐन्द्रियता की उपस्थिति के साथ ही अभिव्यक्ति में विलक्षण विदग्धता या व्यंजक-वक्रता आ गई है। ज्ञातव्य है कि महाकवि की यह रंगचेतना पूरे महाकाव्य में कल्पना और सौन्दर्य के स्तर पर यथाप्रसंग बिम्बित हुई है।

इसीप्रकार इस 'महापुराण' के त्रयोविंश पर्व में वर्णित 'गन्धकुटी' के नाम की अपनी अन्वर्थता है; क्योंकि कुबेर द्वारा निर्मित यह गन्धकुटी ऐसी पुष्पमालाओं से अलंकृत थी, जिसकी गन्ध से अन्धे होकर करोड़ों-करोड़ भ्रमण उन पर बैठे गुंजार कर रहे थे। उस गन्धकुटी में सुवर्ण-सिंहासन सजा था, जिसकी सतह या तलभाग से चार अंगुल ऊपर ही अधर में महामहिमामय भगवान् ऋषभदेव विराजमान थे। भ्रमरों द्वारा फैलाये हुए पराग से रंजित तथा गंगाजल से शीतल पुष्पों की वृष्टि भगवान् के आगे हो रही थी (द्र० त्रयोविंश पर्व)।

भगवान् के समीप ही अशोक का विशाल वृक्ष था, जिसके हरे पत्ते मरकतमणि के थे

और वह रत्नमय चित्र-विचित्र फूलों से सुशोभित था। उसकी शाखायें मन्द-मन्द वायु से हिल रही थीं। उस पर भ्रमर मद से मधुर आवाज में गुंजार कर रहे थे और कोयलें कूक रही थीं, जिससे ऐसा जान पड़ता था कि अशोक वृक्ष भगवान् की स्तुति कर रहा हो। भौरों के गुंजार और कोयलों की कूक से दसों दिशायें मुखरित हो रही थीं। अपनी हिलती शाखाओं से अशोक वृक्ष ऐसा लगता था, जैसे वह भगवान् के आगे नृत्य कर रहा हो और अपने झड़ते फूलों से वह भगवान् के समक्ष दीप्तिमय पुष्पांजलि अर्पित करता-सा प्रतीत होता था।

इस सन्दर्भ में 'भुजगशशिभृता' और 'रुक्मवती' वृत्त में आबद्ध महाकवि की रमणीय काव्यभाषिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

मरकतहरितैः पत्रैर्मणिमयकुसुमैश्चित्रैः ।

मरुदुपविधुताः शाखाश्चिरमधृत महाशोकः ।।

मदकलविहृतैर्द्वैगरपि परपुष्टविहङ्गैः ।

स्तुतिमिव भर्तुरशोको मुखरितदिककुरुते स्म ।।

—(भुजंगशशिभृतावृत्त)

व्यायतशाखादोश्चलनैः स्वैर्नृत्तमथासौ कर्तुमिवाग्रे ।

पुष्पसमूहैरज्जलिमिद्धं भर्तुरकार्षीत् व्यक्तमशोकः ।।

—(रुक्मवतीवृत्त, पर्व 23, श्लोक 36-38)

यह पूरा अवतरण गत्वर चाक्षुष बिम्बों का समाहार बन गया है, जिसमें महाकवि जिनसेन ने गन्ध से अन्ध भ्रमरों के माध्यम से जहाँ घ्राणेन्द्रिय द्वारा आस्वाद्य घ्राणबिम्ब की अवतारणा की है, वहीं गंगाजल से शीतल पुष्पों में त्वगिन्द्रिय द्वारा अनुभवगम्य स्पर्श-बिम्ब का भी आवर्जक विनियोग किया है। साथ ही यहाँ अशोक वृक्ष में मानवीकरण की भी विनियुक्ति हुई है। महाकवि द्वारा प्राकृतिक उपादान अशोक वृक्ष में मानव-व्यापारों का कमनीय आरोप किया गया है। वस्तुतः यह मानवेतर प्रकृति के वानस्पतिक उपादानों में चेतना की स्वीकृति है। साथ ही यहाँ प्रस्तुत का अप्रस्तुतीकरण भी सातिशय मोहक हो उठा है। हम कह सकते हैं कि महाकवि जिनसेन का यह मानवीकरण उनकी सर्वात्मवादी दृष्टि का प्रकृति के खण्डचित्रों में सहृदयसंवेद्य कलात्मक प्रयोग है। महाकवि ने मानवीकरण जैसे अलंकार-बिम्बों के द्वारा विराट् प्रकृति को काव्य में बाँधने का सफल प्रयास किया है, जिसमें मानव-व्यापार और तद्विषयक आंगिक चेष्टा का प्रकृति पर समग्रता के साथ आरोप किया गया है। प्रकृति पर मानव-व्यापारों के आरोप की प्रवृत्ति जैनेतर महाकवि कालिदास आदि में भी मिलती है, किन्तु वनस्पति में जीवसिद्धि को स्वीकारने वाले आचार्य जिनसेन आदि श्रमण-महाकवियों में यह प्रवृत्ति विशेषरूप से परिलक्षित होती है।

महाकवि आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि वह शब्दशास्त्र के पारगामी विद्वान् थे। इसलिए उनकी काव्यभाषिक सृष्टि में वाग्वैदग्ध्य के साथ ही बिम्ब और सौन्दर्य के समाहार-सौष्ठव का चमत्कारी विनिवेश हुआ है। उनकी

काव्यभाषा में व्याकरण का चमत्कार तो है ही, काव्यशास्त्रीय वैभव की पराकाष्ठा भी है; जिसमें सामाजिक चिन्तन और लोकचेतना का भी समानान्तर विन्यास दृष्टिगत होता है।

महाकवि ने आदिपुराण के छब्बीसवें पर्व (श्लोक संख्या 128 से 150) में चक्रवर्ती भरत महाराज के दिग्विजय के वर्णन-क्रम में गंगा नदी की विराट् अवतारणा की है। इसमें महाकवि ने गंगा के प्रवाह के साथ भरत महाराज की कीर्ति के प्रवाह का साम्य प्रदर्शित किया है। इस नदी के वर्णन की काव्यभाषा में वाग्वैदग्ध्य तो है ही, मनोरम बिम्बों की भी भरमार है, साथ ही सौन्दर्य के तत्त्वों का भी मनभावन उद्भावन हुआ है।

सौन्दर्य— विकसित कला-चैतन्य से समन्वित आदिपुराण न केवल काव्यशास्त्र, अपितु सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से भी प्रभूत सामग्री प्रस्तुत करती है। काव्य-सौन्दर्य के विधायक मूलतत्त्वों में पद-लालित्य या पदशय्या की चारुता, अभिव्यक्ति की वक्रता, वचोभंगी या वाग्वैदग्ध्य का चमत्कार, भावों की विच्छित्ति या भंगिमा, अलंकारों की शोभा, रस का परिपाक, रमणीय कल्पना, हृदयहारी बिम्ब, रम्य-रुचित प्रतीक आदि प्रमुख हैं। कहना न होगा कि इस महापुराण में सौन्दर्य-विधान के इन समस्त तत्त्वों का विनियोग हुआ है।

कलाचेता आचार्य जिनसेन ने अपने इस महाकाव्य में समग्र पात्र-पात्रियों और उनके कार्य-व्यापारों का सौन्दर्य-भूयिष्ठ बिम्बात्मक रूप देने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। समकालीन भौगोलिक स्थिति, राजनीति, सामाजिक चेतना एवं अर्थव्यवस्था के साथ ही लोक-मर्यादा, वेश-भूषा, आभूषण-परिच्छेद, संगीत-वाद्य, अस्त्र-शस्त्र, खान-पान, आचार-व्यवहार, अनुशासन-प्रशासन आदि सांस्कृतिक उपकरणों एवं शब्दशक्ति, रस, रीति, गुण, छन्द, अलंकार आदि साहित्यिक साधनों का अपने इस महाकाव्य में उन्होंने यथाप्रसंग समीचीनता से विनिवेश किया है; फलतः भारतीय समाज के सम्पूर्ण इतिहास और समस्त संस्कृति के मनोरम तात्त्विक रूपों का एकत्र समाहार सुलभ हुआ है। भारतीय कला के स्वरूप के सांगोपांग निरूपण के लिए महाकवि जिनसेन के प्रस्तुत काव्य-साहित्य से बिम्ब-विधायक सौन्दर्य-सिक्त भावों और रमणीयार्थ के बोधक शब्दों अर्थात् उत्कृष्ट वागर्थ का आदोहन केवल हिन्दी-साहित्य ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय साहित्य के लिए अतिशय समृद्धिकारक है।

आदिपुराण जैसे कामधुक् महाकाव्य से कला का मार्मिक ज्ञान और साहित्यिक अध्ययन— दोनों की सारस्वत तृषा बखूबी मिटायी जा सकती है; क्योंकि इस काव्यग्रन्थ में इतिहास और कल्पना के अतिरिक्त काव्य और कला— दोनों के योजक रस-तत्त्व की समानरूप से उपलब्धि होती है। आचार्य जिनसेन ने वैभव-मण्डित राजकुलाचार एवं समृद्ध लोकजीवन की उमंग से उद्भूत काव्य, साहित्य और कला के सौन्दर्यमूलक तत्त्वों की एक साथ अवतारणा की है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत महाकाव्य की रचना-प्रक्रिया में श्रृंगार से शान्त की ओर प्रस्थिति उन आचार्य जैन कवियों की चिन्तनगत विशेषता की

ओर संकेत करती है, जिसमें कामकथा का अवसान बहुधा धर्मकथा में किया जाता है और धर्मकथा का प्रचार-प्रसार ही इसप्रकार की काव्यकथा का मूल उद्देश्य होता है।

आदिपुराण की कथाओं में समाहित कला-तत्त्व की वरेण्यता के कारण ही इस काव्य का साहित्यिक सौन्दर्य अपना विशिष्ट मूल्य रखता है। सौन्दर्य-विवेचन में, विशेषतः नख-शिख के सौन्दर्योद्भावन में महाकवि जिनसेन ने उदात्तता (सब्लाइमेशन) की भरपूर विनियुक्ति की है।

विजयार्ध पर्वत के तट को आक्रान्त कर प्रवाहित होने वाली गंगा नदी के सौन्दर्याकन (पर्व 26) में उदात्तता का उत्कर्ष दर्शनीय है, जिसमें उपमा-बिम्ब की रमणीयता बरबस मन को मोह लेती है। वह गंगा नदी रूपवती स्त्री के समान थी; क्योंकि मछलियाँ ही उसकी चंचल आँखें थीं। उठती हुई तरंगों उसकी नर्तनशील भौहों के समान थीं। नदी के उभय तटवर्ती वनपत्ति ही उसकी साड़ी थी। मुखरित हंसमाला उसकी बजते घुँघरुओं वाली करधनी के समान थी। लहरें ही उसके लहराते वस्त्र थे। अपना वाग्वैदग्ध्य प्रदर्शित करते हुए महाकवि ने गंगा को 'समांसमीना' विशेषण से मण्डित किया है। गंगा 'समांसमीना' गाय के समान थी। 'समांसमीना' का अर्थ है — वह उत्तम गाय, जो प्रतिवर्ष बछड़े को जनम देती है ('समां समां वर्ष वर्षं विजायते प्रसूते' इति-निपातसिद्ध शब्द)। इसीप्रकार गंगा भी 'समांसमीना' है, अर्थात् मांसल या परिपुष्ट मछलियों वाली है। पुनः उत्तम गाय में जैसे पर्याप्त पय अर्थात् दूध होता है, वैसे ही गंगा में पर्याप्त पय अर्थात् जल है और फिर उत्तम गाय जैसे धीरे स्वर में रँभाती है ('धीरस्वना' होती है), वैसे ही गंगा भी गम्भीर कल-कल शब्द करती है। इसप्रकार इस सन्दर्भ में वाक्सौन्दर्य, अर्थ-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य के साथ ही पावनतामूलक एवं समग्र श्लेषपरक बिम्ब-सौन्दर्य का एकत्र समवाय हुआ है।

गंगा के शृंगारपरक सौन्दर्य को शान्त रस की ओर मोड़ते हुए महाकवि ने लिखा है कि— उत्तम गाय की तरह गंगा भी पूजनीय और जगत् को पवित्र करनेवाली है, साथ ही वह जिनवाणी के समान जान पड़ती है :—

“गुरुप्रवाह-प्रसृतां तीर्थकामैरुपासिताम् ।

गम्भीरशब्दसम्भूतिं जैर्नी श्रुतिमिवामलाम् ।।” —(श्लोक 137)

जिनवाणी जिसप्रकार गुरु-प्रवाह अर्थात् आचार्य परम्परा से प्रसारित होती है; तीर्थ, अर्थात् धर्म के आकांक्षी पुरुषों द्वारा उपासित होती है, गम्भीर शब्दोंवाली और दोषरहित है; उसीप्रकार गंगा भी विशाल जलप्रवाह वाली है, तीर्थकर्मियों द्वारा उपासित होती है, गम्भीर घोष करनेवाली तथा निर्मल और निष्पंक है। यहाँ गंगा का गाय और जिनवाणी से सादृश्य की प्रस्तुति से पवित्रताबोधक चाक्षुष बिम्ब-सौन्दर्य का विधान हुआ है।

महाकवि आचार्य जिनसेन नारी-सौन्दर्य के समानान्तर ही पुरुष-सौन्दर्य का भी

उदात्त चित्र आँकने में निपुण है। स्त्री-सौन्दर्य का रमणीय चित्र ऋषभदेव की माता मरुदेवी, जो रूप, सौन्दर्य, कान्ति, शोभा, बुद्धि, द्युति और विभूति में इन्द्राणी के समान थीं, की शारीरिक संरचना (द्र०, द्वादश पर्व, श्लोक संख्या 12-58) के रूप में प्रस्तुत हुआ है; तो पुरुष-सौन्दर्य का भव्य चित्र राजा वज्रसेन के पुत्र वज्रनाभि की शारीरिक संरचना (द्र० एकादश पर्व, श्लोक संख्या 15-36) के रूप में आया है। अवश्य ही इन दोनों प्रकार के सौन्दर्योद्भावन में महाकवि ने अपनी काव्यप्रौढ़ि का प्रकर्ष प्रस्तुत करने में विस्मयकारी कवित्व शक्ति का परिचय दिया है। इसीप्रकार महाकवि ने कोमल-बिम्ब के समानान्तर पुरुष-बिम्बों का भी अतिशय उदात्त सौन्दर्योद्भावन किया है। इस सन्दर्भ में दशम पर्व में वर्णित नरक के विभिन्न क्रूर और घृणित दृश्य उदाहरणीय हैं। विशेषकर नारकियों को कढ़ाई में खौलाकर रस बनाने या उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर कोल्हू में पेरने आदि के दृश्यों में वीभत्स-बिम्बों का रोमांचकारी विधान हुआ है। नरक के दृश्यों में महाकवि जिनसेन द्वारा प्रस्तुत पुरुष और वीभत्व बिम्बों की द्वितीयता नहीं है।

सौन्दर्य के तत्त्वों में अन्यतम वाग्वैदग्ध्य की दृष्टि से महाकवि द्वारा प्रस्तुत वज्रनाभि के तपोवर्णन-प्रसंग में 'प्रायवेशन' शब्द का तथा मरुदेवी के शारीरिक चित्रण में 'वामासे' शब्द के निरुक्ति-वैविध्य का चमत्कार द्रष्टव्य है। इन दोनों की निरुक्ति-प्रक्रिया में काव्य और व्याकरण का समेकित अर्थ-सौन्दर्य अतिशय रोचक होने के साथ ही ततोऽधिक रंजनकारी भी है। यह पदगत वाग्वैदग्ध्य है।

'प्रायोपवेशन' की निरुक्ति :

“ततः कालात्यये धीमान् श्रीप्रभाद्रौ समुन्नते ।
 प्रायोपवेशनं कृत्वा शरीराहारमत्यजत् ॥
 रत्नत्रयमयीं शय्यामधिशय्य तपोनिधिः ।
 प्रायेणोपविशत्यस्मिन्नित्यन्वर्थमापिपत् ॥
 प्रायेणोपगमो यस्मिन् रत्नत्रितयगोचरः ।
 प्रायेणोपगमो यस्मिन् दुरितारिकदम्बकान् ॥
 प्रायेणास्माज्जनस्थानादपसृत्य गमोऽटवेः ।
 प्रायोपगमनं तज्जैर्निरुक्तं श्रमणोत्तमैः ॥”

—(पर्व 11, श्लोक संख्या 94-97)

अर्थात् आयु के अन्त में बुद्धिमान् वज्रनाभि ने श्रीप्रभ नामक ऊँचे पर्वत पर प्रयोपवेशन धारण कर शरीर और आहार का ममत्व त्याग दिया। चूँकि इस संन्यास में तपस्वी साधु रत्नत्रय की शय्या पर उपविष्ट होता है, इसलिए इसका 'प्रायोपवेशन' नाम सार्थक है। इस संन्यास में प्रायः रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की प्राप्ति होती है, इसलिए इसे 'प्रायेणोपगम' भी कहते हैं। अथवा इस संन्यास के धारण करने पर प्रायः

कर्मरूपी शत्रुओं का अपगम या विनाश हो जाता है, इसलिए इसे 'प्रायेणापगम' भी कहते हैं। इस संन्यास में प्रायः संसारी जीवों के रहने योग्य ग्राम, नगर आदि से अलग होकर वन में जाकर रहना पड़ता है, अतः इसके विशेषज्ञ श्रमण मुनियों ने इसे 'प्रायोपगमन' कहा है।

'वामोरु' की निरुक्ति :

“वामोरुरिति या रूढिस्तां स्वसात् कर्तुमन्यथा ।

वामवृत्ती कृतावूरु मन्येऽन्यस्त्रीजयेऽमुया ॥”

—(पर्व 12, श्लोक संख्या 27)

अर्थात् महाकवि कहते हैं— 'मैं ऐसा मानता हूँ कि अभी तक संसार में मनोहर ऊरुवाली स्त्रियों के अर्थ में 'वामोरु' शब्द रूढ है। उसे मरुदेवी ने अन्य प्रकार से आत्मसात् कर लिया था। उन्होंने अपने दोनों ऊरुओं को अन्य स्त्रियों को पराजित करने के लिए वामवृत्तिवाला अर्थात् शत्रुवत् आचरण करनेवाला बना लिया था।' कोश के अनुसार 'वाम' शब्द का अर्थ सुन्दर भी होता है और दुष्ट या शत्रु भी। मरुदेवी ने, जो सुन्दर ऊरुवाली स्त्री थी, अपने उन ऊरुओं से अन्य स्त्रियों के ऊरुओं की सुन्दरता को परास्त कर दिया था। इस सन्दर्भ में निर्मित अभंग-श्लेष का बिम्ब-सौन्दर्य अतिशय चित्ताह्लादक और मनोमोहक है।

बिम्ब-विधान और सौन्दर्य-निरूपण के सन्दर्भ में अतिशय प्रतिभाप्रौढ़ एवं वाग्विदग्ध महाकवि आचार्य जिनसेन की काव्यभाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। उनकी काव्यभाषा सहज ही बिम्ब-विधायक और सौन्दर्योद्भावक है। उनकी काव्य-साधना मूलतः भाषा की साधना का ही उदात्ततम रूप है। कोई भी कृति अपनी भाषा की उदात्तता के आधार पर ही चिरायुषी होती है। इस दृष्टि से महाकवि जिनसेन का आदिपुराण एक कालजयी काव्यकृति है। आदिपुराण की काव्यभाषा यदि अनन्त सागर के विस्तार की तरह है, तो उससे उद्भूत बिम्ब और सौन्दर्य के रम्य चित्र ललित लहरों की भाँति उल्लासकारी हैं। 'वाक्' और 'अर्थ' की समान प्रतिपत्ति की दृष्टि से आचार्य जिनसेन की भाषा की अपनी विलक्षणता है।

कवि की भाषागत अभिव्यक्ति का लालित्य ही उसकी कविता का सौन्दर्य होता है और उस लालित्य का तात्त्विक विवेचन-विश्लेषण ही सौन्दर्यशास्त्र का विषय है, जिसमें काव्य के रचना-पक्ष के साथ ही उसके प्रभाव-पक्ष का भी विवेचन-विश्लेषण निहित होता है। कहना न होगा कि कविर्मनीषी आचार्य जिनसेन का आदिपुराण रचना-पक्ष और प्रभाव-पक्ष, अर्थात् कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से सौन्दर्यशास्त्रियों के लिए अध्येतव्य है।

कुल मिलाकर महाकविकृत इस सौन्दर्य-गर्भ महाकाव्य का समग्र बिम्ब-विधान उनकी सहजानुभूति की उदात्तता का भाषिक रूपायन है, जो इन्द्रिय-बोध की भूमि से अतीन्द्रिय सौन्दर्य-बोध की सीमा में जाकर निस्सीम बन गया है। उनका समग्र आत्मिक कला-चिन्तन अन्ततः आध्यात्मिक चिन्तन के धरातल पर प्रतिष्ठित हो गया है। ❖❖

प्राकृत का लोकप्रिय छंद : गाहा

—डॉ० हरिराम आचार्य

शौरसेनी प्राकृत का दार्शनिक एवं आध्यात्मिक वाङ्मय का जो अधिकांश भाग छंदोबद्ध मिलता है तथा लौकिक मुक्तक-साहित्य में भी जो आदर्श गेय-पदों के प्राचीन ग्रंथ मिलते हैं, उनमें छंदशास्त्रीय दृष्टि से 'गाथा' या 'गाहा' छंद ही अपने विविध रूपों में प्रयुक्त मिलते हैं। सामान्यतः प्राकृत का छंद मानी जानेवाली यह 'गाथा' मूलतः शौरसेनी प्राकृत की ही दुहिता है तथा इसकी परम्परा एवं प्रयोगों की क्या विशिष्ट पृष्ठभूमि रही है —इन सब बिन्दुओं पर विशद प्रकाश डालने वाला यह गवेषणापूर्व आलेख जिज्ञासु पाठकों को सुस्वादु स्वस्थ पाथेय प्रस्तुत कर सकेगा।

—सम्पादक

“पाइय-कव्वस्स णमो, पाइयकव्वं च णिम्मिअं जेण ।

ताहं चिय पणमामो, पढिऊण य जे वि याणांति ।।” —(वज्जालगं, 3/13)

अर्थ:— प्राकृतकाव्य को नमन है, उसके रचनाकार को नमन है, और उन्हें भी नमन है, जो प्राकृतकाव्य को पढ़ना जानते हैं।

अत्यन्त प्राचीनकाल से भारतभूमि वाङ्मय द्विधा विभक्त रहा है— संस्कृत और प्राकृत के रूप में। संस्कृतभाषा 'संस्कारपूता' है, प्राकृतभाषा 'सुखग्राह्यानिबन्धना' है। एक पुरुषबन्धमयी पुरुषभाषा है, दूसरी सुकुमार-बन्धमयी महिलारूपिणी वाणी है।² संस्कृत देवभारती है, तो प्राकृत जनभाषा है; जिसमें निबद्ध काव्य देशी शब्दावली, मधुर अक्षर, ललित छंद और स्फुट अर्थ के कारण सहज पठनीय बन जाता है।³ 'गउडवहो' के रचयिता वाक्पतिराज भी अभिनव अर्थ, सहज रचना-बंध तथा मृदु शब्द-सम्पदा के कारण प्राकृत-काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं।⁴ प्राकृत-काव्य के प्रति अतिशय अनुरागवश प्राकृत मुक्ता-मणियों के संकलयिता जयवल्लभसूरि तो यहाँ तक कह गये कि ललित-मधुराक्षरपूर्ण, युवतिजनवल्लभ, शृंगाररसपूर्ण प्राकृतकाव्य के रहते कौन भला संस्कृत काव्य पढ़ेगा?⁵

'गाहासत्तसई' के अमर प्रणेता महाकवि हाल ने प्रथम शती ई० में ही यह घोषणा कर दी थी कि 'अमिअं पाइयकव्वं' (प्राकृत-काव्य अमृत है);⁶ किन्तु उस पर 12वीं शताब्दी के संस्कृत कवि, 'आर्यासप्तशती' के सुकृती रचनाकार गोवर्धनाचार्य ने यह कहकर तो जैसे मोहर लगा दी कि—

“वाणी प्राकृत-समुच्चिरसा, बलेनैव संस्कृतं नीता ।

निम्नानुरूपनीरा कलिन्दकन्येव गगनतलम् ॥”⁷

उपर्युक्त सभी कथन प्रमाणित करते हैं कि प्राकृतकाव्य में जनभाषा की नैसर्गिकता नव-नव अर्थों की सम्पदा, सूक्तियों की कथन-भंगिमा और सरसता के गुणों के कारण सचमुच ‘अमृतमय’ है; किन्तु प्राकृतभाषा की मुक्तक-मुक्तामणियों की शाश्वत आभा की चर्चा तब तक अधूरी है, जब तक उस सूत्ररूप छन्द का वर्णन न किया जाये, जिसमें इन्हें पिरोया गया है। वह छंद है— ‘गाहा’ या ‘गाथा’। प्राकृत के मुक्तक और ‘गाहा’ वस्तुतः ‘कहियत भिन्न न भिन्न, गिरा-अरथ जल-वीचि सम ।’ गाहा और प्राकृत-मुक्तक का साथ चोली-दामन का साथ है, दोनों परस्पर सम्पृक्त हैं, अभिन्न हैं। इसलिये यह लेख गाहा-चर्चा के लिए, गाथा की गाथा के लिए समर्पित है, जो वैदिक संहिताओं के मंत्रयुग से समस्त जैनागम-साहित्य, प्राकृत मुक्तक काव्य और उसके अनुकरण पर लिखित संस्कृत-हिन्दी की सतसई-परम्परा में नाम और रूप बदलकर भी ‘स्थिता व्याप्य विश्वम्’ रही है।

‘गाथा’ शब्द मूलतः वैदिक है। यह उतना ही पुरातन है, जितने पुरातन वेद-मंत्र हैं। ‘गै’ धातु में ‘थन्’ प्रत्यय जोड़ने पर ‘गाथ’ शब्द बनता है, उसीका (टाप्-युक्त) स्त्रीलिंग रूप है ‘गाथा’। गाथा का अर्थ है गीति। ‘गाथा’ और ‘गातु’ दोनों समानार्थक हैं, किन्तु ये मंत्रगान से भिन्न लोकगीति के रूप में गाये जाते थे। ऋचा का त्रिगुणकाल परिमित स्वर संयोगयुक्त गान ‘साम’ कहलाता था— ‘त्र्यर्चं साम ।’ जैमिनीय सूत्र में गीतियों को ‘साम’ कहा गया है— ‘गीतिषु सामाख्या ।’ सामवेद से संगीत का जन्म हुआ है, भरतमुनि ने ‘नाट्यवेद’ की रचना के समय साम-मंत्रों से ही गीत-तत्त्व ग्रहण किया था— “सामभ्यो गीतमेव”। शब्द और स्वर का, साहित्य और संगीत का, मंत्रपद और गीत (गान) का संगम होने के कारण ‘सामवेद’ को सर्वोत्तम वेद माना गया। ‘श्रीमद्भगवद् गीता’ के विभूतियोग में भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कि— ‘वेदानां सामवेदोऽस्मि’ (10/22)। किन्तु यह एक सुविज्ञात तथ्य है कि सामगान केवल ऋग्वैदिक छंदों का किया जाता था, जिनकी संख्या सात थी। चौबीस अक्षरात्मक ‘गायत्री छंद’ में चार अक्षर जोड़ने पर ‘उष्णिक्’; इसीप्रकार चार-चार अक्षर बढ़ाते जाने से क्रमशः अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती छंद बनते थे। इनमें से गायत्री और उष्णिक् त्रिपाद हैं तथा अनुष्टुप्, बृहती, त्रिष्टुप् और जगती चतुष्पाद हैं तथा ‘पंक्ति’ पंचपादात्मक वर्णित छंद है। ‘गाथा’ छंद वैदिक युग में प्रचलित मात्रिक छंद था। वे मंत्रों में भी यह गीति अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है; किन्तु मंत्र-भाग न होने से यह पंक्ति-बाह्य ही रहा। देवस्तुतिपरक मंत्रों से पृथक् मनुष्यों की दान-स्तुतियों एवं अन्य विषयों में ‘रैभी, नाराशंसी’ तथा गाथाओं का प्रयोग किया जाता था। यद्यपि ‘रैभी’ और ‘नाराशंसी’ की तुलना में अपनी गीतिमयता के कारण

गाथा को मंत्र-द्रष्टाओं ने अधिक सम्मान दिया है। 'ऋग्वेद' के एक मंत्र (9/99/4) में लिखा है कि पावन (पवमान) सोम की वन्दना का सामगान स्त्रोतागण प्राचीन गाथाओं के योग से करते थे, उस समय देवताओं के नामोच्चरण के समय उनकी अंगुलियाँ सोम-छवि प्रदान करती थीं— "तं गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत।

उतो कृपना धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः ॥”

अश्विनी-कुमारों के साथ परिणय की वेला में नववधू सूर्या के मंगल परिधान गाथा से परिष्कृत होने उत्प्रेक्षा की गई है कि मानो नववधू के शृंगार के समय विवाहमंगल की लोकगीतियाँ गाई जा रही हों। ऋग्वेद का मंत्र है—

‘रैभ्या सीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।

सूर्याया भद्रमिद्वासो गाययैति परिष्कृतम् ॥” —(10/85/6)

अर्थात् रैभी (ऋचा) सूर्या की विदा के समय साथ जाने वाली सहेली (यजमान वधू विनोदाय दीयमाना वयस्या=अनुदेयी) और नाराशंसी दासी (न्योचनी) बनी। सूर्या का मंगल (भद्र) वस्त्र (वासस्) गाथा से अलंकृत किया गया।

‘ऐतरेय आरण्यक’ के छंदों को ऋचा, कुम्भ्या और गाथा —इन वर्गों में बाँटा गया है। ‘ऐतरेय ब्राह्मण’ (7/18) का कथन है कि “ऋचा दैवी होती है और गाथा मानुषी।” ‘भैत्रायणी संहिता’ (3/76) में कहा गया है कि “विवाह-लग्न के प्रसंग में ‘गाथा’ गाई जाती थी।” इससे प्रकट होता है कि गाथा-भाव गीतों का मूलस्वरूप रहा होगा। ‘ऐतरेय ब्राह्मण’ (17/18) में शुनःशेष की कथा को ‘शतगाथम्’ कहा गया है और ‘शतपथ ब्राह्मण’ (11/5/7) में गाथा छंद को ‘मात्रिक’ बताया गया है। वैदिक साहित्य में ही नहीं, अपितु ‘जेन्द अवेस्ता’ में भी मंत्र-भाग के छंदों को ‘गाथा’ कहा गया है।

‘काठक संहिता’ (14/5) और ‘तैत्तिरीय ब्राह्मण’ (1/32/6-7) में उल्लेख है कि गाथा गायकों से गाथा-गान के बदले दान या मूल्य नहीं लेना चाहिये। इन उल्लेखों से सिद्ध है कि वैदिक युग में गाथा मंत्रभाग के साथ ही लोकप्रचलित गीति थी, उसका स्वरूप मात्रिक भी था; किन्तु छन्द रूप में उसका लक्षण न मिलने से लगता है कि वैदिक गाथा प्रायः ‘अनुष्टुप्’ जैसे वर्णिक वृत्तों पर ही आधारित रही होगी।

महर्षि वाल्मीकि के मुख से जब ‘अनुष्टुप्’ जैसे वैदिक छंद का आदिकाव्य में अवतरण हुआ और लौकिक संस्कृत में उसे नूतन छन्द का अवतार माना गया; तब से रामायण, महाभारत और उसके बाद पालिभाषा के बुद्धवचनों और जातकों में गाथा छंद लुप्त हो गया। अतः अनुमान किया जाता है कि मात्रिक गाथायें मूलतः भारोपीय छंद या मूल वैदिक छंद न होकर वैदिक आर्यों से पूर्व भारत में रहने वाली जातियों, संभवतः द्रविड़ जातियों के लोकसाहित्य की देन है। द्रविड़-संपर्क कारण आर्यों में प्रचलित मात्रिक गेयपदों को ‘गाथा’ नाम से पुकारा जाने लगा होगा। बाद में भी नाट्य-परम्परा में ध्रुवागीतियों

या प्राकृत गीतियों में इसी छंद और प्राकृतभाषा का प्रचलन रहा है। ध्रुवागीतियों की भाषा के लिए भरतमुनि ने यही नियम-विधान किया है—

‘भाषा तु शौरसेनी स्यात् ।’ —(नाट्यशास्त्र, 32/440)

भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र के बत्तीसवें अध्याय में ‘ध्रुवागीतियों’ के विधान एवं प्रकारों का वर्णन किया गया है। भरतमुनि का कथन है कि नाट्य-प्रयोग में पाँच प्रकार की ध्रुवागीतियों का गान किया जाता है— प्रावेशिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी, अन्तरा तथा नैष्कामिकी—

“प्रवेशाक्षेप-निष्काम-प्रासादिक-मथान्तरम् ।” —(32/317)

इन ध्रुवाओं में गान-हेतु नारदादि ऋषि-मुनियों द्वारा अनेकविध विचार किया गया था, जिनमें गाथा-गीति भी सम्मिलित थी। यथा—

“या ऋचः पाणिका गाथा सप्तरूपंगमेव च ।

सप्तरूपप्रमाणं च तद्घ्रुवेत्यभिसंज्ञितम् ॥” —(32/2)

अर्थात् ऋचायें, पाणिका, गाथा और सप्तगीत —इन सभी को ‘ध्रुवा’ कहा जाता है। गेयपदों में ‘लघु’ और ‘गुरु’ अक्षरों का जो प्रयोग किया जाता है, उन्हें भरत ने ‘गाथांश’ नाम दिया है।

“गुरुर्गाथांशकौ यस्याः सर्वपादेषु दृश्यते ।

श्रीरिति ख्यातनामासौ कीर्तिता प्रथमा ध्रुवा ॥” —(32/49)

इन ध्रुवागीतियों के नानावृत्तों से उत्पन्न प्रकारों को नाट्यशास्त्र में ‘जाति’ कहा गया है।

“एतास्तु जातयः प्रोक्ता नानावृत्त-समुद्भवाः ।” —(32/313)

इन जाति नामक गाथा-प्रकारों (या गीतिभेदों) का प्रयोग वहाँ किया जाना चाहिये; जहाँ वाक्यों में संवाद बोलना अभीष्ट या उचित न हो; क्योंकि गीतों से युक्त वाक्यार्थों से रसपाक में सहज परिपक्वता आ जाती है :—

“यानि वाक्यैस्तु न ब्रूयात्तानि गीतैरुदाहरेत् ।

गीतैरेव हि वाक्यार्थैः रसपाको बलाश्रयः ॥” —(32/357-58)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भरतमुनि ने पाँचों प्रकार की ध्रुवागीतियों के लिये केवल शौरसेनी प्राकृतभाषा का नियम ही नहीं बनाया, अपितु उन्होंने उसके लिए जो मात्रिक छंदों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे भी इसी प्राकृत में निबद्ध हैं और लोकगीत-परम्परा से ग्रहण किये गये हैं। किन्तु ब्रह्मा द्वारा निर्मित पंचम एंव सर्ववेदसाररूप सार्ववर्णिक ‘नाट्यवेद’ का नाम चरितार्थ करने के लिए तथा वैदिक-युगीन गाथा-परम्परा से जोड़ने के लिए ध्रुवा-गाथाओं को सातों वैदिक छंदों के आधार पर नया जाति-स्वरूप प्रदान किया है। जैसे—

(i) गायत्री जाति

“मेह रवाउलं रुद्धगह कदंबं ।

पसमिद दिवाकरं रुददि विय णहदलं ॥”

(ii) उष्णिक जाति

“फुल्लितअ-तरुखंडे सुरभि-पवणहदे ।
विहरदि पदमवणे हंसो सहअरि-परिवुदो ॥”

(iii) अनुष्टुप् जाति

“ताराबंधु एस णहे विक्किरमाणो मेहपडम् ।
किरणसहस्स भूसिदओ उदयदि सौम्मो रजणिकरो ॥”

(iv) बृहती जाति

“एसो सुमेरु-वणअम्मि देवअ-सिद्धअपरिगीदे ।
अदि-सुरभि-गंध-वनचारी पविचरदि विहंगम जुवावो ॥”

(v) पंक्ति जाति

“पादवसीसं कंपअमाणो सुरहि गअ-गंड-वासिदओ ।
उपवण-तरुगण-लासणओ विचरदि वरतणु वणपवणो ॥”

(vi) त्रिष्टुप् जाति

“कुमुदवणस्स विभूसणओ, विघुणिअ तिमिरपडं गगणे ।
उदअगिरिसिहर महिरुहंतो, रअणिकरो उदयदि विमलकरो ॥”

(vii) जगती जाति

“दिअगण-मुणिगण संथुदओ, तविद-कणअबर-सणिभ-देहो ।
दुदमिह णहदलमहिरुहमाणो, विअरदि सपदि दिवसकरो ॥”

ये सभी जातियाँ (लोकगीतियाँ) वैदिक छंदों से संबद्ध मात्रिक जातियाँ कही गई हैं। इनके अतिरिक्त गण एवं मात्राओं के आधार पर ‘ध्रुवा’ छंदों के इतने प्रकार वर्णित हैं, जिन्हें इस लघु लेख के कलेवर में उद्धृत करना संभव नहीं है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र में प्राकृत-गाथाओं को ध्रुवागीतियों के अनिवार्य करके भारतमुनि ने गाथाओं जाति की महत्ता को स्वीकार किया है और उनके सरस भावप्रधान काव्यगुण को सम्मान दिया है। नाट्यशास्त्र की रचना के समय तक प्राकृतगाथा अनेक रूपों में गान की विधा थी। वह एक मात्रिक छंद के साँचे में सीमित नहीं हुई थी।

पिंगलाचार्य ने जब अपना सुप्रसिद्ध छन्दःशास्त्र लिखा, तब गाथा के विषय में इतना ही सूत्र लिखा— ‘अत्रानुक्तं गाथा ।’ (8/1) इस सूत्र की व्याख्या में ‘हलायुध’ ने स्पष्ट किया— ‘अत्र शास्त्रे नामोद्देशेन यन्नोक्तं छन्दः, प्रयोगे च दृश्यते, तद्गाथोक्ति मन्तव्यम् । गेयपद या गीति होने के कारण संस्कृत के पिंगलशास्त्र में ‘गाथा’, ‘अनुक्त’ ही रही; किन्तु जनकठों में यह निरंतर गूँजती रही और प्राकृतवाणी को शृंगार बनकर गई जाती रही।

रत्नशेखर सूरि ने ‘छन्दकोश’ में गाथा का छन्दरूप में लक्षण लिखा—

“सामण्णेणं बारस अद्धारस बार पण्णरसमत्ताओ ।

कमसो पय-चउक्के गाहाए हुंति णियमेणं ।।”

संस्कृत के मात्रिक छंद ‘आर्या’ का भी यही लक्षण है—

“यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रा स्तथा तृतीयेऽपि ।

अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ।।”

‘गाथा’ और ‘आर्या’ की इस समानता को देखकर कोलब्रुक (A.R. × 400) का कथन है “प्राकृत गाथा संस्कृत आर्या का लोकरूप है; किन्तु यह कथन प्रामाणिक नहीं, मात्र आनुमानिक है।” वस्तुतः गाथा अपने मूलरूप में ‘विषम द्विपदी खण्ड’ था, जिसकी प्रथम अर्द्धाली में 30 और दूसरी अर्द्धाली में 27 मात्रायें होती थीं। यह गेय था और भावगीतों का आधार था। इस छंद का मात्रिक विधान और द्विपदीत्व इसके लोकगीतात्मक उत्स का संकेत करते हैं। पिंगलाचार्य ने इसे ‘अनुक्त’ कहकर छोड़ दिया और ‘वृत्त-रत्नाकर’ (1/18) में ‘शेषं गाथा’ लिखकर गाथा को ‘विषमाक्षर’ एवं विषम चरणवाला ‘विषमवृत्त’ बताया गया। जब लोकछंद ‘गाथा’ को संस्कृत पंडितों ने ‘आर्या’ नाम दिया, जो द्विपदी खंड गाथा को 12 : 18 : 12 : 15 मात्राओं में विभाजित करके इसे चतुष्पदी बनाकर अपना लिया। इसप्रकार प्राकृत ‘गाथा’ संस्कृत में ‘आर्या’ पद पर प्रतिष्ठित हुई, किन्तु ‘सामवेद’ के सहस्रवर्त्मों की तरह गाथा के अन्य अनेक भेदोपभेद संस्कृत में अवतरित नहीं हो सके, जबकि प्राकृत में वे काव्योद्धान में प्रस्फुटित होते रहे, जिनका विवरण णदियड्ड (नन्दितादय) द्वारा लिखित प्राचीन ग्रंथ ‘गाथा-लक्षण’ में विस्तार से मिलता है। सदाशिव आत्माराम जोगळेकर ने ‘हालसातवाहनाची गाथा सप्तशती’ की भूमिका (पृ०46) में मराठी ‘वृत्तदर्पण’ से उद्धृत लक्षण-सहित विषमवृत्त आर्या (गाथा) के चार अन्य गीतिभेदों का उल्लेख किया है—

गीति — 12 + 18 : 12 + 18

उपगीति — 12 + 15 : 12 + 15

उदगीति — 12 + 15 : 12 + 18

आर्यागीति — 12 + 20 : 12 + 20

किन्तु इनके उदाहरण संस्कृत में नहीं मिलते, जबकि वस्तुतः ये गाथा छंद के प्रकार हैं, इसलिये प्राकृत में इनके उदाहरण प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है।

‘प्राकृत-पैंगलम्’ (भाग-2) में ‘विषम द्विपदी गाथा’ जिसके प्रथमार्द्ध में 30 और द्वितीयार्द्ध में 27 मात्रायें कुल 57 मात्रायें होती हैं, जिसका चतुष्पदी रूप संस्कृत में ‘आर्या’ कहलाया, के मुख्यतः 27 भेद गिनाये हैं, जो गुरु-लघु वर्णों की घट-बढ़ के आधार पर बनते हैं। जिस गाथा में 27 गुरु तथा तीन लघु वर्ण (कुल 30 वर्ण एवं 57 मात्रायें) हों, वह गाथाओं में आद्या ‘लक्ष्मी गाथा’ (लच्छीगाथा) कहलाती है। तीस अक्षरों से युक्त इस लक्ष्मी को सभी पूजते हैं। इसी में क्रमशः एक-एक गुरु का हास करने से ऋद्धि, बुद्धि,

लज्जा आदि 27 भेद निष्पन्न होते हैं। अंतिम भेद हंसवधू में एक गुरु और 55 लघु वर्ण होते हैं। गाथा में एक 'जगण' होना श्रेष्ठ बताया गया है। एक जगण से युक्त गाथा कुलवती, दो जगण से स्वयंगृहीता, तीन से रंडा और अधिक होने से वेष्ट्या कहलाती है। इसी प्रकार 13 लघु वर्ण होने से गाथा ब्राह्मणी, 21 लघु होने पर क्षत्रिया, 27 लघु होने पर वैश्वधू और शेष शूद्रा होती है। जिन गाथा में प्रथम, तृतीया और पंचम या सप्तम स्थान में 'जगण' हो, तो वह 'गुर्विणी' कहलाती है। प्राकृत काव्य में अवगाहन करने पर इनके उदाहरण प्राप्त किये जा सकते हैं।

नाट्यशास्त्र में 'जाति' नाम से परिभाषित, 'ध्रुवगीति' के अधिधान से नाट्य-प्रबन्धों में प्रयुक्त प्राकृतभाषा के गीति छंदों में निबद्ध करके गाई जानेवाली, वाक्य, वर्ण, अलंकार, यति, पाणि और लय के अन्योन्य संबद्ध शास्त्रबद्ध शैली में निबद्ध गाथा-गीति मध्ययुग में दो धाराओं में बँट गई— (i) संगीतधारा और (ii) काव्यधारा। संगीतधारा में गीतिरूप में प्रचलित गाथा का नाम 'ध्रुवगीति' से बदलकर 'ध्रुवपद' हो गया। ध्रुवपद के लिये नाट्यशास्त्र के अनुकरण पर लोकभाषा में ही गाये जाने का नियम प्रचलित रहा। अतः ध्रुवपद के बोल 'शौरसेनी' के विकसित लोकभाषारूप ब्रजभाषा में रचे गये। संगीत-क्षेत्र में प्रविष्ट होकर गाथा गीति का ध्रुवपद रूप अपने शास्त्रीय निबंधन में चार अंगों में विभक्त किया गया— स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग। इन चार अंगों में जो शब्द-रचना गाई जाती थी, वह या तो शृंगार या भक्ति-रस की पद-रचना होती थी, या कवित्त-सवैया आदि छंदों की चतुष्पदी होती थी। गुरु-शिष्य-परम्परा या कुल-परम्परा के अनुसार गान-शैली में कुछ भिन्नता के आधार पर ध्रुवपद-गीति की चार 'बानियाँ' चल पड़ीं, जिन्हें 'घराना' भी कहा जाता है। ये चार बानियाँ हैं— गोबरहरी बानी, खंडार- बानी, अगुरबानी और नोहारबानी। ये बानियाँ संगीत की शास्त्रीय गान शैलियाँ होकर भी काव्य-बाह्य नहीं थी, ध्रुवपद-गायक रसखान के सवैये (सिफ महेश आदि), सूरदास आदि अष्टछाप कवियों के भक्ति पदों (सूर आयो सीस पर, या रत्नजटित कनकथाल) को ध्रुवपद के चतुरंगी साँचे में ढालकर आज भी गाते हैं। चूँकि गाथा वैदिक मंत्रों से सम्बद्ध थी, अतः ध्रुवपद के गवैये अपना गान 'ओम्' के उच्चारण से शुरू करते हैं। इनमें कई मुस्लिम घरानों के गायक होने के कारण 'ओम्' को 'नोम्-वोम्' में परिवर्तित कर देते हैं।

इस प्रसंग में यह भी नितान्त उल्लेखनीय है भक्तिकालीन पदरचना की परम्परा का मूल उपजीव्य रूप था भगवत्पाद आद्यशंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित 'अष्टपदी' गीति-शैली, जिसमें प्रथम पंक्ति स्थायीरूप में 'ध्रुवपंक्ति' कहलाती है और आगे के पद 'अन्तरा' के रूप में गाये जाते थे। यह नूतन शैली वस्तुतः तत्कालीन प्रचलित लोकगीतियों से ही ग्रहण की गई थी, जो 'गाथक' या 'गाथिक' कहलाते थे। गाथक (गै+थकन्) शुद्ध भावगीति-गायक

थे और गायिक (गै+ठन्) गीति में कथातत्त्व का संयोग करके गाते थे, उन्हें कथागायक भी कह सकते हैं। गुरुवर्य शंकराचार्य अद्वैतवाद के प्रवर्तक थे। इस दर्शन में ब्रह्म की माया-सृष्टि को मकड़ी (लूता) की उपमा से समझाया जाता है। संभवतः इसीलिये भगवत्पाद ने मकड़ी की तरह गीति में भी आठ पद रचकर उसे 'अष्टपदी' बना दिया संस्कृत गीति-परम्परा में यह अष्टपदी लोकप्रिय होती गई, जिसका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन उत्कल कवि जयदेव की सरस रचना 'गीत-गोविन्दम्' है, जिसका अनुवर्तन संस्कृत गीतिकाव्य में काफी हुआ। पुरी के जगन्नाथ मंदिर से यह अष्टपदी देश भर में भक्तिपदों की अलग पहचान बन गई। काव्यक्षेत्र में 'गाथा' ने जब गीति-छंदों का रूप ग्रहण किया और प्राकृतभाषा में गाथामुक्तकों की कोटिश उन्मुक्त रचनाओं के संग्रह हांलरचित 'गाहासत्तसई' का अनुकरण संस्कृत की आर्याओं ने किया, तो वही परंपरा ब्रज-अवधी और मैथिली के काव्यों में 'देहा', 'सोरठा', बरवै आदि छंदों का रूप लेकर आगे बढ़ी, जिससे 'सत्तसई' साहित्य समृद्ध होता गया। महाकवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' के प्रास्ताविक भाग में 'गाहाकोश' का काव्यात्मक उल्लेख करते हुए लिखा है—

“अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः ।

विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः ॥”

'गाथाकोश' के प्राकृत-सुभाषितों को रत्नों की उपमा देते हुए बाणभट्ट ने विशुद्ध 'जाति' छंद कहा है। 'गाहा' छंद की यही विशेषता है कि वह लोक-छंद 'जाति' था, किन्तु उसमें 'अग्राम्यता' थी, ग्राम्यत्व दोष नहीं था। प्राकृत-गाथाओं के रचयिता लोककवि रहे होंगे, ग्रामवासी भी हो सकते हैं, किन्तु उनकी गाथाओं में गँवारपन नहीं है, इसीलिये वह कोश सदा 'अविनाशी' बना रहा है।

'गाहा' में निबद्ध प्राकृतकाव्य को तो 'अमिअं' कहा ही गया है, किन्तु प्राकृत-मुक्तकों में 'गाहा' की प्रशस्ति भी अनेक प्रकार से गाई गई है। 'गाहा' वरकामिनी के समान उन्मुक्त हृदया (सच्छंदिया) रूपवती, अलकारभूषिता और सरसभाषिणी होती है। वह तभी रस प्रदान करती है, जब उसका सुरीति से अवगाहन या गायन किया जाये—

“सच्छंदिया सरूवा सालंकारा सरस-उल्लावा ।

वरकामिणव्व गाहा गाहिज्जंती रसं देइ ॥” —(वज्जा ० ३)

यहाँ 'गाहिज्जंती' शब्द में श्लेष है— गाह्यमाना एवं गीयमाना। कालिदास की वाणी की एक प्रशस्ति में भी ऐसा ही कहा गया है— 'प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या ।'

अन्यत्र कहा गया है कि गाहा का रस, महिलाओं के विभ्रम और कवियों के उल्लाप किसका हृदय नहीं हर लेते— “कस्स ण हरंति हिययं ।” (वज्जालगं, 3/5)। जो लोक गाथाओं के गीतों के प्रौढ़ महिलाओं और तन्त्रीनादों के रस को नहीं जानते, उनके लिये उनका अज्ञान ही सबसे बड़ा दंड है। —(वज्जा, 3/9)

बिहारी ने इस भाव को अपने दोहे में और अधिक स्पष्ट एवं काव्यमय ढंग से कहा है—

“तंत्रीनाद, कवित्तरस, सरस राग, रति-रंग।

अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग।।”

‘अनबूड़े अरसिक’ न तो जीवन में महिलाओं के हृदयगत भाव को और न काव्य में गाथाओं के मर्मगत रस को पा सकते हैं। वे तो निपट अभागो और पुण्यभ्रष्ट लोग हैं। —(वज्जालगं, 3/5)। इसलिये अलंकारों से सजी, सामुद्रिक लक्षणों से युक्त और परस्पर अनुराग से रसिकहृदया रूप सुंदरी प्रेमिकाओं की तरह रमणीय सालंकार, सुलक्षणा और विविध राग-रागिनियों से गाई जाने वाली गाथायें जब हृदय में नहीं उतरतीं, तब पाठक या श्रोता प्रेमियों का मन खिन्न हो जाता है। —(वज्जालगं, 3/2)। एक गाथा कवि ने स्वयं गाहा (गाथा) को ही चेतावनी देते हुए कहा है कि “अरसिक गँवार लोगों से तुम दूर-दूर ही रहना, जो तुम्हें भली-भाँति गा नहीं सकते। नहीं तो वे तुम्हें अपने दाँतों से चबा-चबाकर तुम्हें पीड़ा पहुँचाते हुए उसी तरह तोड़कर लघु बना देंगे (तुम्हारी गुस्ता नष्ट कर देंगे), जैसे गँवई लोग ईख के डंडे को कठोर दाँतों से काट-काट कर छोटा कर देते हैं।” गाथा-गायन एक विशिष्ट कला है। जो पाठक या नायक इस छंद की मात्राओं के साथ उनकी यति-गति एवं स्वर-लय की पद्धति को नहीं जानता, वह इसे प्रस्तुत करेगा, तो गाहा श्रुति-रमणीय नहीं होगी— “छंद अयाणमाणेहि जा किया सा प होइ रमणिज्जा।” —(वज्जालगं 3/10)। जयवल्लभसूरि ने ‘वज्जालगं’ में एक गाथा संकलित की है, जिसमें वर्णन किया गया है कि गँवार लोग द्वारा ऊल-जलूल ढंग से बोले जाने से गाहा बेचारी उसी तरह ‘लुंचपलुंच’ होकर रुदन करने लगती है; जिस तरह अनाड़ी ग्वाले (मन्द दोग्धा) के हाथों से बेढगे तरीके से थन कुचले-मसले जाने पर बेचारी दुधारू गैया कष्ट से रँभारती है—

“गाहा रुवई वराई सिक्खिज्जंती गँवार-लोएहिं।

कीरइ लंचपलुंचा जह गाई मंद-दोहेहिं।।” —(वही, 3/7)

प्राकृत मुक्तक-काव्य में लोकानुभूतियाँ अभिव्यक्त हुई हैं, जन-जन के सुख-दुःख मुखरित हुए हैं, सरस ढंग से कामतत्त्व का चिन्तन हुआ है, राग-परिवाहिनी गीति की गाथा-गगरियाँ छलकाई गई हैं; इसलिए महाकवि हाल ने ‘गाहासत्तसई’ में लिखा कि इस अमृतमय प्राकृतकाव्य को पढ़ने का एक सलीका है। जो लोग इसे नहीं जानते, उन्हें कामतत्त्व का चिन्तन करते हुए शर्म क्यों नहीं आती? गाथायें महाविदग्ध जनों की गोष्ठी में ही विश्वास होकर पढ़ी जानी चाहिये; क्योंकि वे ही गाथागायक या गाहा-पाठक की प्राकृत-कविता के परमार्थ को समझ सकते हैं। गाहा छंद में निबद्ध शृंगाररसपूर्ण मुक्तकों को पढ़े बिना न तो अर्धाक्षर-भणितों का, न सविलास मुग्ध-हसितों का और न ही अर्धाक्षि-प्रेक्षितों का आनंद प्राप्त किया जा सकता है, यह बात निश्चित है। गाँवों में जन्मी,

पत्नी और बड़ी नैसर्गिक रूपवती और सहज रागमयी अल्हड़ ग्रामबाला सी 'गाहा' ने आर्या नागरिकाओं के प्रेमी संस्कृत-पंडितों का भी शताब्दियों से मन मोह रखा है— तभी तो ध्वनि काव्य के श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में वे गाहा को ही निहारते रहे हैं और 'गाहा' भी अपने अल्हड़पन में कहती रही है—

“गाहारूहम्मि गामे वसामि णअरट्टिइं ण आणामि ।

णाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ।।”

मैं गाँवों में जन्मी,
रहती हूँ गाँवों में,
हाल नगर का क्या है?—
यह मैं नहीं जानती ।
मैं जो हूँ, सो हूँ ।
पर नागरियों के पतियों का मन हर लेती हूँ,
बस मैं तो यही मानती ।।

सन्दर्भग्रंथ-सूची

1. द्विधा विभक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मियुनं नुनाव ।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधुं सुखग्राह्यनिबन्धनेन ।। —(कुमारसंभवमहाकाव्य)
2. कर्पूरमंजरी, राजशेखर (1/8) ।
3. वज्जालगं, जयवल्लभसूरि (3/18) ।
4. गउडवहो, वाक्पतिराज (1/92) ।
5. वज्जालगं, 3/4 ।
6. गाहासत्तसई, 1 ।
7. आर्यासप्तशती, 52 ।



मिथ्यादृष्टि बनाम नास्तिकता

‘मिथ्यादृष्टिर्नास्तिकता ।’ —(अमरकोश, 5/1/4 पृष्ठ 30)

“मिथ्यादृष्टिः नास्तिकता द्वे परलोकाभावादिज्ञानस्य ।

नास्ति परलोके इति मतिर्यस्य तस्य भावो नास्तिकता ।।”

अर्थः— मिथ्यादृष्टि एवं नास्तिकता —ये दो एक सिक्के के ही दो पहलू हैं । (क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव परलोक आदि की चिंता किये बिना विषय-कषाय में प्रवृत्त होकर कर्म बांधता रहता है) । तथा परलोक आदि नहीं हैं —ऐसी बुद्धि या भाव का नाम ही नास्तिकता है । इसीलिए परलोक के दुःखों की परवाह किये बिना कर्मबन्धन में निरत मिथ्यादृष्टि को ‘नास्तिक’ कहा गया है ।

‘सम्राट् खारवेल के शिलालेख’ की सूत्रात्मक शैली की दृष्टि से समीक्षा

—श्रीमती रंजना जैन

प्राचीन अभिलेखों का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, भौगोलिक आदि अनेकों दृष्टियों से अध्ययन होता रहा है और उन पर आलेख, पुस्तकें आदि भी लिखी जाती रहीं हैं। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से अभिलेखों का अध्ययन व लेखन का कार्य बहुत नगण्यप्रायः रहा है। इस दिशा में विदुषी लेखिका द्वारा किया गया यह कार्य भारतीय प्राचीन अभिलेखों के बारे में एक नवीन चिन्तन-परिदृश्य का सूत्रपात करता है। इस दृष्टि से कार्य करने पर इन अभिलेखों को साहित्यिक मान्यता भी मिल सकेगी। ‘प्राकृतविद्या’ के जिज्ञासु पाठकों को यह आलेख अवश्य रुचिकर लगेगा।

—सम्पादक

दिग्विजयी सम्राट् खारवेल ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी का अपराजेय सम्राट् एवं प्रजावत्सल राजा था। प्राप्त उल्लेखों के अनुसार वह संभवतः भारत का ऐसा प्रथम सम्राट् था, जिसका ‘महाराजा’ के रूप में राज्याभिषेक किया गया था। जैसा कि वह अपने ऐतिहासिक हाथीगुम्फा शिलालेख में लिखता है— “महाराजाभिसेचनं पापुनाति।” उसने इस देश को ‘भारतवर्ष’ इस संज्ञा से भी अपने उक्त शिलालेख में अभिहित करके इस नामकरण को ऐतिह्यता एवं असंदिग्धता प्रदान की थी। इतिहास एवं संस्कृति की दृष्टि से अनेकों महत्त्वपूर्ण तथ्यों को आत्मसात् किये इस संक्षिप्त कलेवरवाले महनीय शिलालेख में शब्दों को सीमितता होते हुए भी अपार कथ्य समाहित है। इसीकारण से इसे ‘सूत्रात्मक शैली’ में लिखे गये अद्वितीय ऐतिहासिक अभिलेख’ की संज्ञा भी विद्वानों ने प्रदान की है। इसमें निहित सूत्रात्मकता को लक्षित करके उसकी साधार सिद्धि करने का संक्षिप्त प्रयास इस आलेख में किया गया है।

शास्त्रकारों ने सूत्र का लक्षण निम्नानुसार बताया है—

“अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्।

निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।”

इसके अनुसार सूत्र के प्रमुख सात लक्षण हैं—

1. जिसमें कम से कम शब्दों में अधिक बात कही गई हो। 2. जिसमें सदेहरहित

कथन हो। 3. जिसमें सारभूत बातें कही गई हो। 4. जिसमें गूढ़ बातों का निर्णय किया गया हो। 5. जो पुनरुक्ति आदि दोषों से रहित हो। 6. जिसमें हेतु या प्रमाणपूर्वक कथन किया गया हो। 7. जो तथ्यात्मक हो।

सूत्र लक्षण की इस कसौटी पर कसने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट् खारवेल का शिलालेख किसी सूत्र-ग्रंथ का प्रणयन तो नहीं था, किंतु उसमें सूत्र-शैली का भरपूर प्रयोग किया गया है। इसका साधारण विवरण निम्नानुसार है—

1. अल्पाक्षरत्व

सामान्यतः शिलालेख में सूत्रशैली के इस अंग का ही प्रयोग किया जाता है। क्योंकि इसमें लिप्यासन या लेखन की आधार-सामग्री की सीमितता, लेख उत्कीर्ण करने की कठिनता तथा उसमें लोकरुचि बनी रहे —इस निमित्त लेखन-सामग्री की सीमितता आदि कारणों से शिलालेख-सीमित शब्दों में ही लिखाये जाने की परम्परा है। अधिकांश प्रतिष्ठित शिलालेखों में तो इस बात का आद्योपांत अनुपालन हुआ है। यहाँ तक कि मंगलाचरण में भी पाँचों परमेष्ठियों की जगह मात्र दो परमेष्ठियों को नमस्कार करके ही वह मूल बात पर आ गये हैं। शब्दों की सीमितता के कारण ही उसमें समास-बहुल प्रयोग किये हैं। यथा— “लेख-रूप-गणना-ववहार-विधि-विसारदेन, गोपुर-पाकार-निवेशनं, कलिंग-पुवराज निवेशिनं, सीरि-कडार-सरीरवता, वितध मुकुट, निखित-छत्त-भिगारे, मणि-रतनानि” इत्यादि।

यद्यपि कई विशेषणों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मश्लाघा के लिये उसने शब्द-सीमितता की मर्यादा का उल्लंघन किया है, किंतु सूक्ष्मता से विचार करने पर प्रत्येक विशेषण किसी न किसी नवीन तथ्य की व्यापक जानकारी का प्रतिनिधित्व करता सिद्ध होता है। संक्षिप्त कथन-शैली का यह प्रमुख वैशिष्ट्य है कि यदि उस लिखित सामग्री में से एक अक्षर या एक शब्द भी कम कर दिया जाये, तो वहाँ निश्चितरूप से अर्थ एवं वाक्य में कमी या न्यूनता आ जाती है। खारवेल शिलालेख में भी यह बात पूरी तरह घटित होती है। क्योंकि जहाँ कहीं से भी एक पद भी त्रुटित या अवाच्य रहा है, वहीं वह वाक्य अधूरा रह गया है, और उसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। यथा—

‘दसमे च वसे दंड संधि साम (मयो) भरधवस पठानं महीजयनं..... कारापयति।’

‘सतमचवसं पसासतो वजिरधरवति.....स मतुकपद (पुनां) स (कुमार).....।’

2. असंदिग्धत्व

हाथीगुम्फा अभिलेख में अल्पसाक्षरता का पालन करने के लिये समासों एवं सीमित शब्दों के प्रयोग हुये हैं। फिर भी इसकारण से कहीं भी भ्रामक या संदेह-उत्पादक कथन उन्होंने नहीं किये हैं। न ही इसकी समास-शैली कहीं भी स्पष्ट अर्थ-बोध में बाधक बनी है। अस्पष्ट अर्थवाले या संशयोत्पादक-पदों का कहीं भी प्रयोग नहीं किया जाने से संक्षिप्त होते हुये भी हाथीगुम्फा शिलालेख का प्रत्येक कथन असंदिग्ध है।

स्पष्ट समास — गंधवदेद-बुधो, हय-गज-गर-रघ-बहुलं, जीव-देह-सिरिका, सकल-समण-सुविहितानं, सब-रठिक-भोजके ।

3. सारवत्त्व

अनावश्यक बातों का कथन न हो, मात्र सारभूत बातें ही आये — इसके प्रति सम्राट् खारवेल इतना अधिक सावधान था कि उसके अभिलेख में त्रयोदश-वर्षीय राज्य-विवरण के अतिरिक्त अन्य कई महत्त्वपूर्ण सूचनायें भी नहीं आ रही हैं। जैसेकि— खारवेल के माता-पिता का नाम या आगामी पीढ़ी आदि का विवरण। यद्यपि वह सातवें वर्ष में अपने राजकुमार की उत्पत्ति का संकेत करता है, किन्तु कोई विवरण वह नहीं देता है। इतिहासकारों को ये चीजें कमी के रूप में लग सकती हैं; किन्तु यदि हम भारतीय परम्परा का स्मरण करें, तो उसमें वैयक्तिक परिचय के बारे में ऐसे प्रयोग अनेकत्र प्राप्त होते हैं। कई साहित्यकारों ने बड़े-बड़े ग्रंथ लिख दिये; किन्तु अपने कुल-परिचय के बारे में एक पंक्ति भी नहीं लिखी। तथा हाथीगुम्फा अभिलेख के माध्यम से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें खारवेल का लक्ष्य अपने त्रयोदशवर्षीय राज्य-शासन का संक्षिप्त-विवरण देना था। राज्याभिषेक के पूर्ववर्ती उसने अपने 24 वर्षीय वैयक्तिक जीवन को भी मात्र कुछ ही शब्दों में कहकर समाप्त किया है। इसीप्रकार उपसंहार-वाक्य में भी उसने प्रत्येक विशेषण के द्वारा अपने व्यक्तिगत एवं जीवन की विशेष उपलब्धियों को संकेतित किया है। और प्रत्येक पद में सारभूत महत्त्वपूर्ण बातों को ही सूचित करता है। इसकी सारवत्ता को इस बात से जाना जा सकता है कि अभी तक लगभग डेढ़ सौ से अधिक विद्वानों ने इसके शिलालेख के प्रत्येक पद का भाष्य किया है; तथापि कई पद अभी भी अनेकों रहस्यों को अपने आप में संजोये हुये हैं। तथा उनके विशद-व्याख्यान में कई पृष्ठों की सामग्री आ सकती है। उदाहरणस्वरूप— 'गंधववेदबुधो' एवं 'विजाधिराधिवास-अहतपुवं' ये दो पद ऐसी ही व्यापक विवेचन की अपेक्षा रखते हैं।

4. गृहनिर्णयत्व

हाथीगुम्फा अभिलेख यद्यपि एक सम्राट् का ऐतिहासिक विवरण है, फिर भी इसके सीमित शब्द भी अनेकों गंभीर बातों संकेतमात्र में प्रस्तुत कर जाते हैं। जैसेकि— राज्याभिषेक के द्वितीय वर्ष में 'अचितयिता सातकर्णिं' यह पद बताता है कि खारवेल के राज्याभिषेक के समय सातकर्णी राजा एक पराक्रमी एवं सुसमृद्ध राज्य का धनी रहा होगा; किन्तु खारवेल को अपने पौरुष, रणकौशल एवं दूरदर्शिता पर पूर्ण विश्वास था। अतः उसने सातकर्णी की परवाह किये बिना पश्चिम दिशा की ओर अपनी चतुरंगिणी सेना को भेजा। किन्तु इससे यह भी स्पष्टरूप से संकेतित है कि वह सातकर्णी से उलझा नहीं था। अर्थात् उसने सातकर्णी से युद्ध नहीं किया था।

इसीप्रकार 'कृष्णवेणा' को पार करने के बाद 'असिक नगर' का उल्लेख उसके मार्ग

एवं भौगोलिक स्थिति की सार्थक सूचनायें देते हैं। इसीप्रकार राज्याभिषेक के पाँचवें वर्ष में नंद राजा के द्वारा तीन सौ वर्ष पूर्व खुदवाई गई नहर को तिनसुलिया के रास्ते कलिंग नगरी लाना ऐतिहासिक एवं भौगोलिक दोनों दृष्टियों से गूढ-रहस्यों को सूचित करना है। राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में प्रदत्त विवरण में भी 'पलवभार' एवं 'कपरुख' इन दो पदों के द्वारा उसने एक पूरी संस्कृति के गूढ तत्त्वों को संकेतित कर दिया है। ग्याहरवें वर्ष में 'पिथुंड को गधों से जुतवाना' भी ऐसे ही गूढ-रहस्यों का उद्भावन करता है। क्योंकि किसी स्थान को उजड़वाने के लिये ऐसे प्रयोग किये जाते थे। इसी क्रम में जब वह एक सौ तेरह वर्ष प्राचीन तमिल-गणतंत्र की सूचना देता है। तो वह इसकी संबलता तथा दक्षिण भारत में ईसापूर्व तृतीय शताब्दी से गणतांत्रिक व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण रहस्य उद्घाटित करता है। अंततः 'चोयठि अंग संतिक तुरियं', 'जीवदेहसिरिका' एवं 'खेमराजा' आदि पदों का प्रयोग गूढ-रहस्यों को सूचित करता है।

5. निर्दोषत्व

सूत्रशैली में पुनरुक्ति या पिष्टपेषण को सबसे प्रमुख दोष माना जाता है। हाथीगुम्फा अभिलेख में वर्ष-क्रमानुसार तथ्यात्मक निरूपण होने से इसमें पिष्ट-पेषण की गुंजाइश भी नहीं थी। तथा सम्राट् खारवेल ने भी इसके बारे में बेहद सावधानी रखी है। संपूर्ण शिलालेख में एक मात्र सम्राट् खारवेल का नाम ही एकाधिक बार आया है, और वह भी वाक्य में असदिग्धता के लिये; न कि पिष्टपेषण के लिये। क्योंकि यदि उन स्थलों पर इसके नाम की जगह सर्वनामों का प्रयोग किया जाता, तो उसमें भ्रम की पर्याप्त गुंजाइश थी। अन्य व्याकरणादि दृष्टियों से भी इस शिलालेख के पाठ अधिक आदर्श एवं निर्दोष है। अतः सूत्रशैली के पाँचवें गुण 'निर्दोषता' का भी इसमें स्पष्टरूप से अनुपालन प्रतीत होता है।

6. हेतुमत्त्व

जब प्रत्येक पद का प्रयोग सोद्देश्य एवं सहेतुक रीति से किया जाता है, तो उसे हेतुमत्त्व प्रयोग' कहते हैं। खारवेल-अभिलेख में वैसे तो प्रत्येक पद का प्रयोग सोद्देश्य एवं सहेतुक है; जैसे 'णमो अरिहंताणं' आदि दो लघु वाक्यांश मंगलाचरण के निमित्त दिये गये हैं। 'महाराजाभिसेचनं' पद उसके विशिष्ट राज्याभिषेक को सूचित करता है। 'वातविहत' पद गोपुरों एवं प्राकारों आदि के पुनःसंस्कार का कारण बताता है। 'कण्ठवेणं गताय' पद कलिंग नगरी से 'असिक नगर' की दिशा को समझने के लिये मील के पत्थर की भाँति है। 'दंपनतगीतवादित-संदसनाहि' एवं 'उसव-समाज कारापनाहि' में जो अलग-अलग क्रियाओं का प्रयोग किया गया है; वे इस कार्यक्रमों के आयोजनों की प्रकृति की भिन्नता बताने के लिये हैं। चतुर्थ वर्ष में 'वितघ-मुकुट' एवं 'निखित-छत-भिंगारे' पदों का प्रयोग उन पराजित राजाओं को मूर्तरूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से किया गया है। 'बम्हण' एवं 'समण' पदों का प्रयोग खारवेल के समय में विद्यमान प्रमुख सम्प्रदायों की

उपस्थिति का सूचक है। अपने निवास के लिये बनवाये राजप्रासाद का 'महाविजय' नामकरण उसकी अखण्ड विजय-यात्राओं की सार्थकता को सूचित करता है। इसीप्रकार उपसंहार में 'पसंतो सुणंतो अणुभवंतो कलाणानि' का प्रयोग एक विशिष्ट क्रम को सूचित करता है। अधिसंख्यक पद इसीप्रकार सहेतुक एवं सोद्देश्य प्रयुक्त हुये हैं।

7. तथ्यात्मकत्व

खारवेल ने अपने पौरुष एवं गौरवपूर्ण राज्य-शासन का जो वर्णन किया है, वह तो तथ्यपूर्ण है ही; किंतु कहीं भी वैयक्तिक प्रतिष्ठा के आकर्षण में आकर उसने तथ्यों को बदला नहीं है। जैसेकि राज्याभिषेक के पंचमवर्ष में जब वह 'तिनसुलिया' के रास्ते एक नहर को कलिंग नगरी में लाने की बात करता है; वहाँ पर वह स्पष्ट कर देता है कि यह नहर मूलतः उसने नहीं खुदवाई थी, अपितु इसका निर्माण कार्य खारवेल से भी तीन सौ वर्ष पूर्व नंद राजा ने कराया था। इसीप्रकार मगधराज 'बसहतिमित्त' का नामोल्लेख एवं उससे छीनकर कलिंग-जिन की प्रतिमा को ससम्मान कलिंग नगरी लाना खारवेल शिलालेख की तथ्यपरकता की प्रामाणिकता को सिद्ध करता है। भले ही खारवेल ने अनेकों महत्त्वपूर्ण कार्यों का संपादन किया था; फिर भी जैन-आगमों के संरक्षण के लिये बुलाई गई गोष्ठी में मूल श्रेय वह अपनी रानी सिन्धुला को इसलिये देता है कि वह उसकी प्रेरणास्रोत थी।

इससे स्पष्ट है कि सूत्रात्मकता के समस्त आधार-बिंदुओं का खारवेल-अभिलेख में अनुपालन होने से खारवेल अभिलेख सूत्रात्मक लेखन-शैली का एक आदर्श निदर्शन प्रमाणित होता है। ❖❖

बौद्ध मूलसंघ

[महात्मा बुद्ध-निर्वाण के 236 वर्ष अशोक के समय तक बौद्धधर्म भिन्न-भिन्न अट्ठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था]

महासंगीति आयोजित करनेवाले बौद्ध भिक्षुओं ने बुद्ध के शासन को विपरीत बना डाला। उन्होंने 'मूलसंघ' में भेद पैदा करके एक दूसरा ही संघ खड़ा कर दिया। उन्होंने धर्म के यथार्थ आशय को भेद डाला। उन्होंने दूसरे ही 'सूत्रों' का संग्रह किया, दूसरे ही अर्थ किये। पाँच निकायों के यथार्थ आशय और धर्म-प्ररूपणा को उन्होंने भेद डाला।

“महासंगीतिका भिक्खू विलोमं अकंसु सासनं ।

भिदित्वा मूलसंघं अज्जं अकंसु संघं ।।

अज्जत्थ संगहित्तं सुत्तं अज्जत्थ अकरिसु ।

अत्थं धम्मं च भिंदिसु ये निकायेसु पंचसु ।।”

—(बौद्धग्रंथ, दीपवंस, 5,32-38) ❖❖

हे पावन पर्यूषण आओ !

—अनूपचन्द न्यायतीर्थ

भय का वातावरण बना है, धर्मकार्य कैसे हो बोलो ।
ज्ञान-ध्यान-तप नहीं सुहाता, पर्वराज अब आंखें खोलो ॥
पूजापाठ नहीं कर पाते, आकर मन को समझा जाओ,
हे पावन पर्यूषण ! आओ ॥ 1 ॥

उग्रवाद, आतंकवाद अब पैर जमाये खड़ा हुआ है ।
लूटपाट अन्यायी चोरी करने में अड़ा हुआ है ॥
स्वाध्याय कैसे कर पावे, आकर कोई मार्ग दिखाओ,
हे पावन पर्यूषण ! आओ ॥ 2 ॥

उत्तम क्षमा धरें हम कैसे, बात-बात में क्रोध सताता ।
गुरुजन विनय नहीं हो पाती, सिर पर मान चढ़ा मदमाता ॥
क्षमाशील विनयी बन जावे ऐसी कोई राह दिखाओ,
हे पावन पर्यूषण ! आओ ॥ 3 ॥

आर्जव धर्म नहीं निभ पाता, मन में मायाचार भरा है ।
उत्तम शौच गया गंगा जी, अशुचि-भाव ने मन जकड़ा है ॥
कपट मिटे शुचि जगे भावना, ऐसा सुन्दर पाठ पढ़ाओ,
हे पावन पर्यूषण ! आओ ॥ 4 ॥

सत्य धर्म छुप गया गुफा में, उत्तम सत्य नहीं दिख पाता ।
संयम कैसे पले बताओ, मन-मर्कट वश में नहीं आता ॥
सत्य और संयममय जीवन, होवे ऐसे भाव जगाओ,
हे पावन पर्यूषण ! आओ ॥ 5 ॥

तप की महिमा भूल गये हैं, तप केवल अब रहा दिखावा ।
त्याग प्रदर्शनमात्र रह गया, दाता के मन भरा छलावा ॥
तप अरु त्यागमयी हो जीवन, ऐसे अब उपदेश सुनाओ,
हे पावन पर्यूषण ! आओ ॥ 6 ॥

किंचित् भी मेरा नहीं जग में, फिर भी परिग्रह बढ़ता जाता ।
 आत्म-रमण को छोड़ निरंतर, विषयों में मन दौड़ा जाता ॥
 परिग्रह छोड़ ब्रह्म को समझे, ऐसा अब संदेश सुनाओ,
 हे पावन पर्युषण ! आओ ॥ 7 ॥

अभयदान दो, हे पर्युषण ! दशों धर्म को पूर्ण निभावे ।
 सही स्वरूप समझकर उनका, आत्म निरीक्षण करने पावे ॥
 इस ही में उद्धार छिपा है, सबको यह आदेश सुनाओ ।
 हे पावन पर्युषण ! आओ ॥ 8 ॥ ❖❖

सिगरेट से भी खतरनाक है तन्दूरी रोटी

यू तो मुँह का स्वाद बदलने के लिये आजकल मध्यमवर्गीय समाज में भी रेस्तरां, होटल जाना आम हो गया है। आम भोजन से हटकर कुछ खाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा मिलान विश्वविद्यालय के 'राष्ट्रीय ट्यूमर संस्थान' द्वारा अध्ययन से यह पता चला है कि तंदूरी खाना खानेवाले लोगों को, तन्दूरी खाने से परहेज करने वालों की तुलना में कैंसर के शिकार होने का खतरा कई गुना ज्यादा होता है। उनके अनुसार तंदूरी खाना बनाने के दौरान अर्थात् उसके पकने व भूनने की प्रक्रिया में उसमें जहरीले रसायन बेंजोपाइरिन का निर्माण हो जाता है। यह अतिघातक रसायन शरीर के कैंसरग्रस्त होने में अहम् भूमिका निभाता है। तंदूर में भोजन पकाते समय उसका तापक्रम 700 डिग्री सेल्सियस से भी अधिक होता है। यह तापक्रम भोजन सोख लेता है, जिससे उसमें कई प्रकार की रसायनिक क्रियाएँ होती हैं, जिससे बेंजोपाइरिन का भी निर्माण होता है, जो कैंसर के लिये उत्तरदायी है। वैज्ञानिक शोधों से यह भी पता चला है कि रोटी सेकने का परम्परागत तरीका अर्थात् चूल्हे में सिकी रोटी गुणवत्ता एवं स्वाद में अंगीठी, स्टोव, हीटर या तंदूर में सिकी रोटी के मुकाबले अधिक स्वादिष्ट होती है। कोयले की राख जो रोटी पर लग जाती है, वह भी कुछ मात्रा में कैल्शियम की कमी को पूरा करती है व मंदा आंच पर सिकी होने के कारण उसके अन्दर का भाग पूरी तरह से सिक जाता है, जो कि जल्दी पचनशील होता है; जबकि तेज आंच पर सिकी रोटी को सिर्फ ऊपर तह ही सिक पाती है, जो कि पेट में जाकर कई गड़बड़ियों जैसे गैस, अपचनशीलता, कब्ज आदि का कारण बनती है। तंदूर में पकनेवाले एक किलोग्राम खाद्य पदार्थ में 600 सिगरेट पीने के बराबर बेंजोपाइरिन का निर्माण होता है। इसका मतलब यह हुआ कि तंदूरी भोजन का सेवन सिगरेट पीने से भी ज्यादा खतरनाक है।

—(साभार — मेवाड़ लौकाशाह क्रान्ति, अंक दि० 14.10.2000) **

दशलक्षण धर्म

—डॉ० सुदीप जैन

‘धर्म’ शब्द ‘धारण किये जाने’ या ‘अपनाये जाने’ के अर्थ का सूचक है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि धर्म मात्र ‘चर्चा’ का नहीं, अपितु ‘चर्चा’ (आचरण) का विषय है। तथा इसे वस्त्र-परिधान आदि की तरह ऊपर से ओढ़कर अंगीकार भी नहीं करना है, अपितु अपने स्वाभाविक गुणों को शुद्धरूप में प्रकट करना है। दर्पण पर लगी हुई कालिमा को हटाकर जैसे उसकी स्वाभाविक निर्मलता प्रकट की जाती है, उसीप्रकार आत्म-परिणामों में छाये क्रोधादि विकारों को हटाकर क्षमादि दशलक्षणमयी स्वाभाविक निर्मलता का प्रकट होना ही आत्मधर्म है। इसीलिये जैनपरम्परा में धर्म की चर्चा के प्रसंग में उत्तमक्षमादि दशलक्षणों की चर्चा भी अनिवार्यतः की ही जाती है। अस्तु, जैनदृष्ट्या धर्म का स्वरूप एवं दशलक्षण धर्म का परिचय यहाँ संक्षेपतः प्रस्तुत है।

जैनदर्शन में ‘धर्म’ की परिभाषा या विवेचन तीन स्तरों पर प्राप्त होता है—

1. स्वरूपतः, 2. फलतः, 3. प्रयोगतः।

1. स्वरूपतः धर्म की परिभाषा

(क) “भाउ विसुद्धउ अण्णउ धम्मु भणेविणु लेहु।” —(परमात्मप्रकाश, 2/68)

अर्थ:—आत्मा का अपना शुद्धभाव ही धर्म है।

(ख) “निश्चयेन संसारे पतन्तमात्मानं धरंतीति विशुद्धज्ञान-दर्शन-लक्षण-निजशुद्धात्म-भावनात्मको धर्मः, व्यवहारेण तत्साधनार्थं देवेन्द्र-नरेन्द्रादि-वन्द्यपदे धरतीत्युत्तमक्षमादि...दशप्रकारको धर्मः।” —(द्रव्यसंग्रह, गाथा 35 की टीका)

अर्थ:— निश्चय से जो संसार में गिरते हुए आत्मा आत्मा को विशुद्ध ज्ञानदर्शन-लक्षणवाली निजशुद्धात्मभावना में धारण करता है, वह ‘धर्म’ है। तथा व्यवहार से उसकी प्राप्ति के लिए इन्द्र-चक्रवर्ती आदि से वन्दित उत्तमक्षमा आदि दशप्रकारोंवाला धर्म है।

(ग) “वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः शुद्धचैतन्य-प्रकाशनमित्यर्थः।”

—(प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गा० 78)

अर्थ:— वस्तु का स्वभाव अर्थात् शुद्ध-चैतन्य का प्रकाशन की ‘धर्म’ है।

- (घ) “चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिदिद्वे ।
मोहक्खोह-विहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो ।।”

—(प्रवचनसार, गा० 7)

अर्थ:— चारित्र, जिसे ‘समभाव’ अर्थात् ‘मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम’ कहा गया है, वही वास्तव में ‘धर्म’ है।

‘भावपाहुड’ में भी यही बात कही गयी है।

- (ङ) “मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ।” —(भावपाहुड, गाथा 83)
मोह और क्षोभ से रहित आत्माका परिणाम ही ‘धर्म’ है।

- (च) समदा तह मज्झत्थं सुद्धोभावो य वीयरयत्तं ।

तह चारित्तं धम्मो सहावाराहणा भणिया ।। —(वृहद् नयचक्र, 356)

अर्थ:— समता, माध्यस्थ्य; शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, स्वभाव की आराधना तथा धर्म —ये सब एकार्थवाची हैं।

2. फलतः धर्म की परिभाषा

- (क) “इष्टस्थाने घत्ते इति धर्मः” —(सर्वार्थसिद्धि, 9/2)

अर्थ:— जो इष्टस्थान में धारण कराता (ले जाता) है, वह धर्म है।

- (ख) “...समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम् । संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।।

सद्दृष्टिर्जानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।।” —(रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 2, 3)

अर्थ:— जो समीचीन, कर्मों का विनाशक, संसार के दुःखों से उठाकर प्राणियों को उत्तमसुख में ले जानेवाला है— वही धर्म है। धर्म के अधिपतियों ने (इस दृष्टि से) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ‘धर्म’ कहा है।

- (ग) “धर्मो नीचेः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।” —(पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, 715)

अर्थ:— जो धर्मात्माओं को नीच पद (संसार) से उच्चपद (मोक्ष) में ले जाये, वही ‘धर्म’ है।

- (घ) धर्मे सुहु पावेण दुहु एउ पसिद्धउ लोइ ।

तम्हा धम्मु समायरहि जें हिय-इंछिउ होइ ।। —(सावयधम्मदोहा, 101)

अर्थ:— धर्म से सुख होता है और पाप से दुःख होता है— यह लोकप्रसिद्ध तथ्य है। अतः जिसे अपने कल्याण की अभिलाषा है, उसे धर्म का भलीप्रकार से आचरण करना चाहिए।

3. प्रयोगतः धर्म की परिभाषा

- (क) “अहिंसादिलक्षणो धर्मः ।” —(राजवार्तिक, 6/13)

अर्थ:— ‘धर्म’ अहिंसा आदि लक्षणोंवाला है।

- (ख) “जीवाणं रक्खणो धम्मो ।” —(कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 478)

अर्थ:— जीवों की रक्षा करना ही धर्म है।

(ग) “धम्मो दयाविसुद्धो ।” —(बोधपाहुड, 25)

अर्थ:— ‘धर्म’ दया से विशुद्ध परिणाम है ।

(छ) “अयं जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसा लक्षणः सत्याधिष्ठितो विनयमूलः क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्तः उपशमप्रधानो नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतावलम्बनः ।।” —(सर्वार्थसिद्धि, 9/7)

अर्थ:— जिनेन्द्रदेव ने जो अहिंसा लक्षणवाला धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसका मूल (जड़) है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्य उसकी बाड़ है, वह उपशम-प्रधान है, नियति-लक्षण है एवं अपरिग्रहता उसका आलम्बन है ।

(ड) “गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परम्परया मोक्षं लभते ।” —(परमात्मप्रकाश टीका, पद्य 2/111)

अर्थ:— गृहस्थों के लिए आहारदान आदि ही परमधर्म है । सम्यक्त्वपूर्वक किये गये इसी धर्म से उन्हें परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

(च) आगम में निष्णात एवं वैराग्यमय आचरण वाले साधु को साक्षात् ‘धर्म’ कहा गया है । —(प्रवचनसार, 1/92)

(छ) धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।

देवा वि तस्स पणमंति, जस्स धम्मो सया मणो ।।

अर्थ:— अहिंसा, संयम एवं तपोमय धर्म का उत्कृष्ट मंगलस्वरूप कहा गया है । ऐसा धर्म जिसके मन में सदैव रहता है, उसे देवता भी प्रणाम करते हैं ।

धर्म की परिपूर्ण परिभाषा

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।

रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणो धम्मो ।।” —(कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 478)

अर्थ:— वस्तु के स्वभाव को ‘धर्म’ कहते हैं, उत्तम क्षमादि दशलक्षणवाला ‘धर्म’ है, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय ‘धर्म’ है तथा जीवों की रक्षा करना भी ‘धर्म’ है ।

धर्म के भेद

धर्म के सामान्यतः ‘मुनिधर्म’ एवं ‘श्रावकधर्म’ नामों से दो भेद कहे गये हैं । इन्हें ही ‘अनगारधर्म’ एवं ‘सागारधर्म’ भी नाम दिया जाता है ।

‘मूलाराधना’ (गा० 557) में श्रुत-धर्म, अस्तिकाय-धर्म एवं चारित्र-धर्म के भेद से धर्म के तीन प्रकार बतलाये गये हैं ।

युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द ने ‘बारस-अणुर्वेक्खा’ ग्रंथ में धर्म का स्वरूप उत्तमक्षमादि दशलक्षणमय प्रतिपादित किया है—

“उत्तम-खम-मद्दवज्जव-सच्च-सउच्चं च संजमं चव ।

तव-तागकिंचिण्हं बम्हा इति दसविहं होदि ।।” —(गाथा 70)

वस्तुतः दश भेदोंवाला धर्म नहीं है, अपितु ‘उत्तमक्षमा आदि दशलक्षणों से युक्त जो

एक अखण्ड है, वही धर्म है' —ऐसा आचार्य शुभचन्द्र ने भी 'ज्ञानार्णव' (2/10) में स्पष्ट किया है।

तत्त्वार्थसूत्र (9/8) में आचार्य उमास्वामी ने भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है कि—“उत्तमक्षमा-मार्दवार्जवशौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः।” इसमें उत्तमक्षमा आदि के अन्त में 'ब्रह्मचर्याणि' बहुवचनान्त प्रयोग किया है, तथा 'धर्मः' इस पद में एकवचन प्रयोग किया है। इससे सुस्पष्ट है कि धर्म के लक्षण उत्तमक्षमा आदि लक्षण दस हैं, किन्तु इनसे लक्षित धर्म दसप्रकार का नहीं है, वह तो एक ही है।

इन उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव आदि दशलक्षणों में प्रत्येक पद के साथ जुड़ा हुआ 'उत्तम' पद विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है। इसका औचित्य एवं सार्थकता बतलाते हुए आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि लिखते हैं—

“दृष्ट-प्रयोजन-परिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम्।” —(सर्वार्थसिद्धि, 9/6)

अर्थात् दृष्ट (लौकिक) प्रयोजनों के निवारण के लिए 'क्षमा' आदि के साथ 'उत्तम' विशेषण जोड़ा गया है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए 'चारित्रसार' में कहा गया है—

“उत्तमग्रहणं ख्याति-पूजादिनिवृत्त्यर्थम्” —(चा०सा०, 58)

अर्थात् ख्याति एवं पूजा आदि की भावनाओं की निवृत्ति के लिए क्षमा आदि के साथ 'उत्तम' पद का प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि यदि कोई व्यक्ति ख्याति, लाभ, पूजा आदि की चाह से क्षमा आदि भावों को धारण करता है; तो उसके वे क्षमा आदि भाव 'धर्म' नहीं कहलायेंगे।

इस दशलक्षणमयी धर्म के बारे में आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द ने 'बारस-अणुर्वेक्खा' ग्रंथ में जो स्पष्टीकरण दिया गया है, वह संक्षेपतः निम्नानुसार वर्णित है।

1. उत्तमक्षमा :— कोहुप्पत्तिस्स पुणो, बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।

ण कुणदि किंचि वि कोहं, तस्स खमा होदि धम्मो त्ति।।

अर्थः— क्रोध की उत्पत्ति के बहिरंग (अपशब्द, तिरस्कार आदि) कितने ही कारण समक्ष उपस्थित हों, फिर भी जो किंचित् मात्र भी क्रोध नहीं करता है, उसके 'क्षमाधर्म' होता है।

2. उत्तम मार्दव :— कुल-रूव-जादि-बुद्धिसु, तव-सुद-सीलेसु गारवं किंचि।

जो ण वि कुव्वदि समणो, महवधम्मं हवे तस्स।।

अर्थः— कुल, रूप, जाति, ज्ञान, तप, शास्त्राभ्यास, सदाचार आदि के निमित्त से यदि कोई श्रमण किंचित् मात्र भी अभिमान (धमण्ड) नहीं करता है, उसे 'मार्दवधर्म' प्रकट होता है।

3. उत्तम आर्जव :— मोंतूण कुडिलभावं, गिम्मल-हिदयेण चरदि जो समणो ।
अज्जवधम्मं तदियो, तस्स दु संभवदि गियमेण ॥

अर्थ:— जो कुटिलता (छल-कपट) के भावों को छोड़कर निर्मल-हृदय से आचरण करता है, उसके लिए नियम से तृतीय 'आर्जव धर्म' उत्पन्न होता है ।

4. उत्तम शौच :— कंखा-भावणिवित्तिं, किच्चा वैरगगभावणा-जुतो ।
जो वददि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोचं ॥

अर्थ:— भोगों की आकांक्षा आदि विकारी (अशुचि) भावों की निर्वृत्ति करके जो परम मुनि वैराग्यभावना से युक्त होता है, उसके 'शौचधर्म' होता है ।

5. उत्तम सत्य :— परसंतावय-कारणवयणं मोंतूण स-पर-हिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तइयो, तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ॥

अर्थ:— दूसरों को पीड़ा (संताप) पहुँचाने वाले वचनों को छोड़कर जो भिक्षु स्व-पर-हितकारी वचनों को बोलता है, उसके 'सत्यधर्म' होता है ।

6. उत्तम संयम :— वद-समिदि-पालणाए, दंडच्चाएण इंदियजएण ।
परिणममाणस्स पुणो, संजमधम्मो हवे गियमा ॥

अर्थ:— व्रत और समिति का पालन करने से, मन-वचन-कायरूपी तीनों दंडों की चंचलता का त्याग करने से इन्द्रियों को जीतने से (जो व्यक्ति आत्मरूप) परिणमित होता है, उसे नियम से 'संयमधर्म' होता है ।

7. उत्तम तप :— विसय-कसाय-विणिग्गहभावं कादूण ज्ञाणसिज्जीए ।
जो भावदि अप्पाणं, तस्स तवं होदि गियमेण ॥

अर्थ:— पंचेन्द्रिय के विषयों एवं क्रोधादि कषायों का निग्रह करके ध्यान की सिद्धि के लिए जो आत्मा की भावना करता है, उसे नियम से 'तपधर्म' होता है ।

8. उत्तम त्याग :— णिव्वेगतियं भावदि, मोहं चइदूण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवेच्चागो, इदि भणिदं जिणवरिदिहिं ॥

अर्थ:— जो समस्त परपदार्थों में मोहभाव छोड़कर निर्वेदभाव (वैराग्य) की भावना करता है, उसे त्यागधर्म होता है —ऐसा तीर्थकरों ने कहा है ।

9. उत्तम आकिंचन्य :— होदूण य णिस्संगो, णियभावं णिग्गिहित्तु सुह-दुहदं ।
णिह्दयेण दु वट्टदि, अणयारो तस्स किंचण्हं ॥

अर्थ:— जो समस्त संग (अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रहों) से रहित होकर सांसारिक सुख एवं दुःख का निग्रह करके निर्द्वन्द्व रूप में आत्मस्वभाव में वर्तता (रहता) है, उसके 'आकिंचन्य धर्म' होता है ।

10. उत्तम बह्मचर्य :— सव्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावम् ।
सो बह्मचेरभावं, सक्कदि खलु दुब्बरं धरदि ॥

अर्थ:— जो स्त्रियों के समस्त अंगों को देखता हुआ भी उनमें (विषय-वासनाजन्य)

दुर्भावों को छोड़ देता है, वह अत्यन्त दुर्घर 'ब्रह्मचर्य धर्म' को धारण करता है।

यह एक सुखद संयोग है कि इस दसलक्षणमयी धर्म को अन्य दर्शनों में भी लगभग इससे मिलते-जुलते रूप में ही स्वीकार किया गया है। वैदिक दर्शन के प्रसिद्ध धर्मशास्त्रीय ग्रंथ 'मनुस्मृति' में महर्षि मनु लिखते हैं :—

“धृतिः क्षमाः दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।” —(मनुस्मृति, 6/92)

अर्थः— धैर्य, क्षमा, दम, अचौर्य, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धीः(ज्ञान), विद्या, सत्य एवं अक्रोध —यह दशांगी धर्म का लक्षण है।

इसीप्रकार 'बौद्ध धर्म' में दस पारमितायें मानी गयी हैं, जिनके पालन से ही मनुष्य 'बुद्ध' हो सकता है। वे हैं — दान, शील, नैष्कर्म्य, प्रज्ञा, वीर्य, शान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा।

'बाइबिल' में 'ईसाई धर्म' के प्राणस्वरूप दस आदेश दिये गये हैं—

1. Thou shalt not have strange Gods before me.
2. Thou shalt not take the name of the Lord thy God in vain.
3. Remember thou keep holy the Sabbath day.
4. Honour thy Father and thy mother.
5. Thou shalt not kill.
6. Thou shalt not commit adultery.
7. Thou shalt not steal.
8. Thou shalt not bear false witness against thy neighbour.
9. Thou shalt not covet thy neighbour's house.
10. Thou shalt not covet thy neighbour's wife.

आश्चर्य यह नहीं है कि इन धर्मलक्षणों में परस्पर कुछ नामभेद हैं। आश्चर्य की बात तो वस्तुतः यह है कि धर्म के दश अंग इन सभी धर्मों में माने गये हैं और उनमें असाधारण समानता है।

—(तत्त्वसमुच्चय, पृष्ठ 181, हीरालाल जैन)

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह दशलक्षणमयी धर्म एक अत्यन्त व्यापक आधारभूमि में अतिप्राचीनकाल से प्रसरित एवं प्रचलित रहा है। अतः इसे सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक धर्म के रूप में भी माना जा सकता है। साथ ही यह भी सुस्पष्ट है कि इसकी सार्थकता उपदेश में चरितार्थ न होकर अनुकरण में पूर्णता को प्राप्त होती है। ❖❖

विवेक बुद्धि

'वीर्य-महिमा-बुद्धिस्तु मा गान्मम् ।' —('मुद्राराक्षस' 1/26 में चाणक्य का कथन)

शक्तियुक्त और महिमामय मेरी विवेकबुद्धि मुझसे (चाणक्य से) अलग न होवे।

**

शिक्षा व संस्कृति के उत्थान की महान् प्रेरिका : चिरोजाबाई

—श्रीमती बिन्दु जैन

पृष्ठभूमि

सभी कलाओं व विद्याओं में सुसम्पन्न हमारा 'भारत' देश जब 19वीं शताब्दी में दासता की वेदना से आहत व जर्जर था, तब मध्यभारत का 'बुदेलखण्ड' क्षेत्र को भी साधन-विहीन बनाने में अंग्रेजों ने कोई कसर नहीं छोड़ी। बुदेलखण्ड अशिक्षा, अज्ञान, अंधविश्वास के अंधकार में आच्छन्न था। ऐसे विषम समय में केवल बुदेलखण्ड क्षेत्र को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष को 'माँ चिरोजाबाई' के रूप में एक अभूतपूर्व वरदान मिला। एक महिला ने शिक्षा के क्षेत्र में विशेष रूप से संस्कृत, प्राकृत, व्याकरण व न्याय आदि के क्षेत्र में जागरण का ऐसा मंत्र फूँका कि गाँव-गाँव में, शहर-शहर में पाठशालायें, विद्यालय, महाविद्यालय व उदासीन आश्रम खुल गये। जन-जन पढ़ने का एवं विज्ञ-जन पढ़ाने का संकल्प लेकर विद्यालयों में दाखिल हो गये। उनके मंगलमयी हाथों का ऐसा प्रभाव था कि अधिकांश शिक्षण-संस्थायें आज भी सुचारुरूप से चलती हैं; कुछ को सरकारी अनुदान प्राप्त है व कुछ सामाजिक लोगों के प्रतिदान से चलती हैं। जिनमें शिक्षित एक करोड़ से अधिक विद्वान् व विदुषी महिलायें ज्ञान के प्रकाश में माँ भारती को प्रकाशित कर चुके हैं। और यह क्रम अब भी अनवरतरूप से चालू है।

संक्षिप्त जीवन परिचय

'चिरोजाबाई' को सभी जन 'बाईजी' कहकर पुकारते थे। 'चिरोजाबाई' का जन्म 'शिकोहाबाद' के एक धार्मिक परिवार में हुआ। उनके पिता 'भौजीलाल' ने 18 वर्ष की आयु में 'सिमरा' ग्राम (जिला टीकमगढ़, म०प्र०) के 'भैयालाल' जी सिंघई से इनका विवाह कर दिया। विवाह के कुछ समय उपरान्त तीर्थयात्रा के समय 'पावागढ़' नामक तीर्थस्थान पर उनके पति का स्वर्गवास हो गया और विवाह के कुछ समय उपरान्त ही आप विधवा हो गईं। वैधव्य की वेदना से इतना आंदोलित हुईं कि कुर्ये पर आत्महत्या के इरादे से गईं; किन्तु वहाँ पर उनका विवेक जागृत हुआ कि जिनका संयोग होता है,

उनका वियोग अवश्य होता है, यही सृष्टि का नियम है— ऐसा विचारकर वापस लौट आईं और आत्महत्या करने के घृणित विचार का पश्चात्ताप करने के लिए जीवनपर्यन्त एक बार भोजन करने एवं दो बार पानी पीने का नियम लिया। सम्पूर्ण जीवन शिक्षा व ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित कर अपनी तीर्थयात्रा पूर्ण करने के लिए चल पड़ीं। गृहनगर वापस आकर सर्वप्रथम कर्जदार कृषक-समुदाय के कर्ज माफ कर दिये। ज्ञानीजनों का समागम करने के क्रम में उन्हें बीस-वर्षीय संकोची व ज्ञान-पिपासु, उदार व दृढ़ प्रकृति का युवक मिला, जो उनके घर भोजन-हेतु आया था। उस युवक का नाम 'गणेश प्रसाद' था। गणेश प्रसाद जी को देखकर उनका मातृहृदय उमड़ पड़ा, वक्षस्थल से दुग्धधारा बह निकली और उन्हें वह जन्म-जन्मान्तर का पुत्र प्रतिभासित हुआ। गणेश प्रसाद को पुत्र के रूप में स्वीकार कर 'क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी' के रूप में समाज को समर्पित किया। माँ चिरोंजाबाई ने अपने इस धर्मपुत्र के माध्यम से वह आज भी अपनी सहस्रों शिखाओं से दिग्दिगन्त को प्रकाशित कर रखा है। माँ चिरोंजाबाई केवल 10,000/- की रकम साथ लेकर अपना सब कुछ दान देकर 'बरुआसागर' में आकर रहने लगीं। कुछ समय बाद सागर (म०प्र०) में 75 वर्ष की आयु में 'चिरोंजाबाई' वे वीतरागी प्रभु की आराधनापूर्वक समताभाव से संसार से विदा ली।

शिक्षा व संस्कृति के उत्थान में चिरोंजाबाई की भूमिका

'बाई जी' के धर्मपुत्र गणेश प्रसाद संस्कृत, प्राकृत, न्याय आदि विद्याओं के पंडित बनना चाहते थे। उनके भीतर ज्ञान-प्राप्ति की तीव्र प्यास थी; किन्तु ज्ञान-प्राप्ति के साधनों का उतना ही अभाव था। एक बार 'बनारस' के एक विद्वान् ने उनका बहुत अपमान किया, साम्प्रदायिकता की संकीर्ण-भावना के कारण पढ़ाने से इनकार कर दिया। वर्णीजी को धर्म, दर्शन व संस्कृति का यथेच्छ अध्ययन कराने का माँ का सपना पूर्ण होता नज़र नहीं आया। बनारस जैसी संस्कृत के विद्वानों से परिपूर्ण नगरी में संस्कृत पढ़ने के लिए किया गया, उनके पुत्र का अपमान समस्त भारत के लिए वरदान बन गया। 'बाईजी' व अन्य विद्वानों ने वर्णीजी को महाविद्यालय खोलने की प्रेरणा दी। एक रुपया दान के रूप में प्राप्त हुआ और चौंसठ पोस्टकार्ड खरीदकर (उस समय एक रुपये के चौंसठ पैसे होते थे, एक पोस्टकार्ड एक पैसे का आता था) महाविद्यालय खोलने की इच्छा से समाज के विशिष्ट व्यक्तियों को अवगत कराया। सभी ने इस प्रयत्न की सराहना करते हुए सहायता का वचन दिया। विशुद्ध परिणामों से प्रयत्न सफल हुआ—

“अवश्यंभाविनो भावा भवन्ति महतामपि।

नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः।।”

(1) 'स्याद्वाद संस्कृत महाविद्यालय काशी' की स्थापना :— एक रुपया बीज के रूप में प्राप्त कर ज्येष्ठ सुदी पंचमी को इस विद्यालय की स्थापना हुई, वर्णी दीपचन्द जी

विद्यालय के अधिष्ठाता बने। जो सेवा श्री सैय्यद अहमद के अलीगढ़ विश्वविद्यालय ने मुसलमानों की, पूज्य मालवीय जी के काशी विश्वविद्यालय ने वैदिकों की तथा पूज्य गांधी जी के विद्यापीठों ने सम्पूर्ण भारत की की है, वही सेवा 'श्री स्याद्वाद संस्कृत महाविद्यालय, जैनसमाज की की है। इस अकेली संस्था ने माँ चिरोंजाबाई की प्रेरणा को और उनके पुत्रवर्णी जी को अमर कर दिया।

(2) काशी हिन्दी विश्वविद्यालय में जैनदर्शन व न्याय का अध्ययन :— भारतीय नवरत्न महामना मालवीय जी के 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' में श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के विद्यागुरु अम्बादास जी शास्त्री संस्कृत विभाग के प्राचार्य बने। माँ चिरोंजाबाई से मार्गदर्शन प्राप्त कर वर्णी जी ने गुरु अम्बादास जी शास्त्री एवं तत्कालीन प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू के पिता श्री मोतीलाल नेहरू जी की सहायता से हिन्दी विश्वविद्यालय में जैनदर्शन व न्याय का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। भारतीय संस्कृति की परिचायक संस्कृत भाषा के प्रसार का एक बहुत बड़ा मार्ग प्रशस्त हुआ।

(3) बुदेलखण्ड के केन्द्र-स्थान सागर में 'सतर्क सुधा तरंगिणी जैन पाठशाला' की स्थापना वीर निर्वाण संवत् 2435 अक्षय तृतीया के दिन हुई, जिसके अधिष्ठाता श्री मूलचन्द्र जी बने। प्रारंभ की अनेक कठिनाईयों के बाद यह पाठशाला सागर में 'मोराजी' नामक स्थान पर 'श्री वर्णी दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, मोराजी' के नाम से विशाल भवन में सुचारु रूप से चल रही है। बुदेलखण्ड क्षेत्र का सबसे अधिक उत्थान इसी महाविद्यालय के द्वारा हुआ है। इसकी सेवा चिरस्मरणीय है।

माँ चिरोंजाबाई कहती थी— "मोराजी के विशाल प्रांगण में आज जब अनेक छात्र-छात्राओं को खेलते-कूदते देखती हूँ, तो हृदय हर्षोतिरेक से भर जाता है।"

(4) कटनी में पाठशाला की स्थापना हुई, जिसके अधिष्ठाता पं० जगन्मोहन लाल जी बने।

(5) खुरई में 'वर्णी गुरुकुल' नामक महाविद्यालय की स्थापना हुई, इसके भी अधिष्ठाता पं० जगन्मोहन लाल जी बने।

(6) जबलपुर में 'वर्णी गुरुकुल' नामक महाविद्यालय की स्थापना हुई, इसके अधिष्ठाता पं० जगन्मोहन लाल जी बने।

(7) बीना (म०प्र०) में श्री नाभिनन्दन दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना हुई।

(8) द्रोणगिरि (म०प्र०) तीर्थक्षेत्र पर 'श्री गुरुदत्त दिगम्बर जैन पाठशाला' खुली।

(9) पपौरा (म०प्र०) तीर्थक्षेत्र पर 'श्री वीर विद्यालय' बना।

(10) पठा ग्राम (म०प्र०) श्री शांतिनाथ विद्यालय तथा सादूमल, मालथौन, मडावरा आदि स्थानों में विद्यालयों की स्थापना हुई।

(11) शाहपुर (म०प्र०) में विद्यालय की स्थापना, बरुआसागर (म०प्र०) में विद्यालय प्रारम्भ हुआ।

(12) खतौली (उ०प्र०) में 'कुन्दकुन्द विद्यालय' की स्थापना सन् 1935 में की गई, जो अब कॉलेज के रूप में परिणत है।

(13) ललितपुर (उ०प्र०) में 'वर्णी इंटर कॉलेज' एवं 'वर्णी महिला इंटर कॉलेज' की स्थापना की, ये आज वर्णी जैन महाविद्यालय के रूप में गतिशील हैं।

इन सभी स्थानों पर छात्रावास एवं सरस्वती भवन (पुस्तकालय) की स्थापना की।

संसार से विरक्त और सच्चे सुख की प्राप्ति में संलग्न समाज के आध्यात्मिक वर्ग का भी उन्होंने विशेष ध्यान रखा। उनके लिए अनेक स्थानों पर उदासीन आश्रमों की स्थापना करवाई। जिनमें इंदौर, कुण्डलपुर, ईसरी (बिहार) आदि के 'उदासीन आश्रम' आज भी समाज के आध्यात्मिक वर्ग के लिए आश्रय-स्थल हैं। इसप्रकार ज्ञानी, त्यागी मार्ग का प्रवर्तन आपकी प्रेरणा से वर्णीजी व दातागुरु बाबा गोकुलचन्द जी ने किया।

इन शिक्षा-संस्थानों की स्थापना के लिए माँ चिरोंजाबाई ने धर्मपुत्र गणेशप्रसाद जी वर्णी, बाबा भागीरथ जी वर्णी एवं दीपचन्द जी वर्णी आदि अनेक विद्वानों के साथ दीर्घ तपस्या की, गाँव-गाँव में आर्थिक सहयोग के लिए वे स्वयं भी वर्णीजी के साथ गईं। पाठशाला के तीर्थ का ऐसे शुभमुहूर्त में प्रवर्तन हुआ कि जहाँ से भी वे निकली; पाठशालायें, महाविद्यालय उदासीन आश्रम, धर्मशालायें खुलते गए, अर्थ की कोई कमी नहीं रही। उनके पुण्य का उनकी वाणी का ऐसा सातिशय प्रभाव था जो चाहा एवं जो कहा, वही हुआ।

यह शिक्षा आन्दोलन पुरुष-वर्ग और महिलावर्ग दोनों के लिए समानरूप से चला। उन्होंने स्त्री-शिक्षा को राष्ट्रीय-विकास का मुख्य आधार माना। राज्यसत्ता भी जहाँ हार मानकर परास्त हो गई, वहाँ यह कार्य (माँ चिरोंजाबाई) एक सदाचारिणी गृहस्थ स्त्री ने सहज ही कर दिया।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सभी शिक्षण-संस्थायें साम्प्रदायिक संकीर्णता की भावना से बहुत ऊपर उठकर स्थापित हुईं। धर्म, जाति, गरीबी, अमीरी के भेद के बिना सभी वर्गों को समानरूप से अध्ययन का अवसर मिला। बाई जी के शब्दों में— "साम्प्रदायिकता ने 'भारत' को भारत (युद्धक्षेत्र) बना दिया है।" यही कारण है कि उन्होंने उनकी शिक्षण-संस्थाओं ने व्यक्तिमात्र की निराशा, हताशा एवं बौद्धिक अवसाद को दूर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

प्रारंभ में सभी शिक्षण-संस्थायें सामाजिक अनुदान से चलीं। अब अधिकांश को सरकारी अनुदान प्राप्त है। कुछ आज भी समाज के योग्य व प्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा प्राप्त अनुदान में चलती है। इन संस्थाओं ने प्रारंभिक व माध्यमिक शिक्षा देने में वही रुचि दिखलाई। ये

महाविद्यालय विद्यार्थियों और विद्वानों के लिए 'कल्पवृक्ष' (इच्छित वस्तु प्रदान करनेवाला वृक्ष) हैं, जिनसे पीड़ित दुःखी निष्कासित छात्रों तथा विद्वानों का हित हुआ है। यदि बाई जी राजा भोज की तरह किसी राज्य की स्वामिनी होतीं हो, उनकी प्रेरणा व प्रयत्न से स्थापित कुछ विद्यालय अर्थाभाव के कारण बन्द नहीं होते।

तीर्थोद्धार

बाई जी की प्रेरणा व सहयोग से वर्णीजी ने पिछड़े ग्रामीण क्षेत्रों व तीर्थ स्थानों में विद्यालयों व गुरुकुलों की स्थापना की, जिससे तीर्थस्थानों पर मन्दिर, छात्रावास व पुस्तकालयों व धर्मशालाओं का निर्माणकार्य हुआ। तीर्थस्थान आसावीय सुविधा-सम्पन्न बनाये गये, जिससे भारतीय सांस्कृतिक धरोहर तीर्थ व पुरातात्विक महत्त्व के स्थलों की रक्षा का महान् व ऐतिहासिक कार्य भी उनके द्वारा सम्पन्न किया गया।

बौद्धिक विकास के साथ कर्मठता का पाठ पढ़ानेवाली इन ज्ञानप्रदायिनी संस्थाओं ने बुंदेलखण्ड ही क्या अज्ञान अंधकाराच्छन्न समस्त भारतवर्ष को ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश से आलोकित किया।

उदारता, दया की प्रतिमूर्ति बाई जी

वर्णीजी ने कहा— "बाई जी के साथ में रहकर मैंने उदारता का गुण ग्रहण कर लिया, किन्तु उसकी रक्षा बाईजी की प्रेरणा से हुई —(मेरी जीवनगाथा पृष्ठ 387)।" बाई जी की ज्ञान के प्रति जागरूकता ही नहीं; बल्कि उनका व्यक्तित्व भी गरिमामय, गुणरूपी रत्नों का सागर था। बाई जी की प्रकृति सौम्य व उदार थी। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन व धन ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए विद्यालयों को समर्पित कर दिया। बाई जी के परिणाम बहुत कोमल थे, परदुःख-कातरता के कारण उनके सान्निध्य में बिल्ली जैसा हिंसक प्राणी भी अहिंसक हो गया। दूध-रोटी उनके साथ नित्य प्रति खाने लगी। बाई जी से प्रभावित होकर एक 10 वर्षीय अछूत मांसाहारी बालिका ने अपने सम्पूर्ण परिवार को शाकाहारी बना दिया। अपने पिता को मछली नहीं बेचने की प्रतिज्ञा दिलवाकर अहिंसक बना दिया।

उनके जीवन की एक प्रेरणादायी घटना का यहाँ उल्लेख करती हूँ—'एक बार वर्णी जी ने लकड़ी काटने वाले मज़दूर को 2 आने कम दिये। जब बाई जी ने यह बात जानी तुरन्त वर्णी जी को एक सेर मिठाई व 2 आने पैसे देकर भेजा। 2 मील पैदल चलने के उपरान्त वह मज़दूर मिला, बाई जी द्वारा दिये पैसे व सामग्री पाकर वह प्रसन्नता से उछल पड़ा।' ये छोटी-छोटी घटनायें उनके दयामयी उदार हृदय की विशालता का परिचय देती हैं।

समता, धैर्य व दृढ़ता की प्रतिमूर्ति बाई जी

बाई जी के जीवन की प्रत्येक घटना हृदयस्पर्शी व अनुकरणीय हैं। बाई जी के

जीवन की प्रेरणादायी घटना का यहाँ उल्लेख करती हूँ— बाई जी को तीर्थवंदना के समय उनके घर चोरी होने का समाचार मिला। परिवार के सभी व्यक्ति दुःखी होकर रुदन करने लगे। बाई जी समता व शांति का परिचय देते हुए बोलीं— “सुकृत से कमाया गया धन आसानी से नहीं जाता। जो धन चला गया, वह वापस मिलनेवाला नहीं है। धन परपदार्थ है। मृत्यु के समय साथ जाने वाला नहीं है। हम यात्रा पूरी करके ही वापस जायेंगे।” जब वे अपने घर वापस पहुँची, तो पाया कि उनका एक भी पैसा चोरी नहीं गया था। समता व धैर्य की ऐसी जीवन्त प्रतीक थीं चिरोंजाबाई।

बाई जी के भावों में बेहद दृढ़ता थी जो ठान लेती थी, अवश्य करती थी। शिरशूल की वेदना, मोतियाबिंद के कारण अंधापन या बैल के मारने पर हाथ का फट जाना कोई भी शारीरिक वेदना उन्हें विचलित कर उनकी प्रसन्नता व सौम्यता का हरण नहीं कर सकी। लोभी डॉ० से मोतियाबिंद का ऑपरेशन कराने के लिए किसी कीमत पर तैयार नहीं हुईं, जीवन भर अंधा रहना अधिक श्रेयस्कर समझा। एक बार बगीचे में घूमते समय उन्हें एक अंग्रेज सहृदय डॉ० मिला। वह बाई जी की सरलता से बहुत प्रभावित हुआ। उसने बाई जी को धर्ममाता मानकर उनकी आँख का ऑपरेशन किया एवं प्रत्येक रविवार को पूरे परिवार के साथ मांसाहार व शराब का त्याग कर दिया। बाई जी ने उसे पुत्रवत् स्नेह देकर ‘पीयूषपाणि’ (जिसके हाथ का स्पर्श अमृत का कार्य करे) का आशीर्वाद दिया, और कहा “तुम्हारे द्वारा अनेक लोगों की वेदना दूर हो।” समता व दृढ़ता की प्रतिमूर्ति बाई सदैव सभी के कल्याण की मंगलकामना करती रहीं।

भारतीय अध्यात्म और बाई जी

बाई जी का सम्पूर्ण जीवन धर्म की आराधना, अध्ययन-मनन-चिंतन में ही व्यतीत किया। वे मानती थीं कि संकट व दुःख के समय दुःखी नहीं होना चाहिए; क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों के जीवन-मरण, सुख-दुःख जो भी होता है, वह पूर्वोपार्जितक अच्छे व बुरे कर्मों का फल है। पर वस्तु को इस सुख-दुःख का कारण मानना अज्ञान है, इसलिए उच्चनैतिक जीवन-मूल्यों के पालन में सद्कार्यों में जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर है। वे मानती थीं—

“सर्व सदैव नियतं भवति स्वकीय—

कर्मोदयान्मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम् ।।

अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य ।

कुर्यात्पुमान्मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम् ।।”

बाई जी के इस अध्यात्मदर्शन ने आत्मशान्ति का मार्ग प्रशस्त किया। बाई जी ने भारतीय सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को अपने जीवन में उतारकर जनसामान्य के सामने आदर्श उपस्थित किया और उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया।

बाई जी अपने पुत्र वर्णी जी व सभी लोगों को यही शिक्षा देती रही, अविवेक का कार्य अंत में सुखावह नहीं होता। जिस कार्य को करने से व्याकुलता हो, वह कार्य नहीं करना चाहिए। पठन और पाठन से यदि हम हिताहित नहीं पहिचान सके, तो उस पढ़ने का कोई लाभ नहीं है।

असली भारत (ग्रामीण क्षेत्र) में ज्ञान की ज्योति जगाने का जो श्रेय उन्हें है, वह किसी विश्वविद्यालय के संस्थापकों को नहीं मिल सकता; क्योंकि माँ चिरोंजाबाई का अपने पुत्र वर्णी जी के साथ मिलकर किया गया पुरुषार्थ नदी, नालों और कूप के समान गाँव-गाँव को जीवन दे रहा है। उनका यह कार्य जलती मशाल है, जिससे एक करोड़ से अधिक लड़के-लड़कियों को ज्ञान का आलोक मिला व योग्य विद्वान् बनकर भारत के कोने-कोने में धर्मदर्शन, न्याय व संस्कृति आदि का ज्ञान बाँट रहे हैं। यदि यह सब अनुप्राणित हो सका — तो सब उस ग्रामीण, अल्पशिक्षित विधवा महिला के उनके धर्मपुत्र वर्णी जी के प्रयास का ही फल है। □□

विधि का विधान और भाग्य की रेखा

“अघटित-घटितं घटयति, सुघटितं च जर्जरीकुरुते ।

विधि दैव तानि घटयति, यानि नरो नैव चिन्तयति ।।”

—(95)

अर्थ:— विधि सुघटित घटनाओं को विघटित करता है और अघटित घटनाओं का निर्माण करता है। भाग्य के कारण ऐसी भी घटनायें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती हैं, जिनकी मनुष्य ने कभी कल्पना भी नहीं की होती है।

उदाहरणस्वरूप भगवान् राम के जीवन को ही ले सकते हैं। प्रातःकाल जिनके राज्याभिषेक की पूरी तैयारी थी, किसी ने सोचा भी नहीं था कि उनकी उस दिन की शाम घनघोर जंगल में वनवासियों की तरह बीतेगी। किसी कवि ने कहा भी है—

“प्रातः भवामि वसुधादपि चक्रवर्तीः ।

सोऽहं ब्रजामि विपिने जटिल-तपस्वी ।।”

अर्थात् मैं प्रातःकाल इस धरती का स्वामी होने वाला था अर्थात् मेरा राज्याभिषेक होने जा रहा था और मैं इस भयंकर जंगल में कठोर तपस्वी होने जा रहा हूँ।

अतः विधि का विधान अलग चलता है और मनुष्य अपने भविष्य की कल्पना के ताने-बाने अलग ही बुनता रहता है। अपनी उधेड़बुन में वह अपने भविष्य का निर्माता बनकर प्रयत्नशील रहता है तथा भाग्यरेखा अपने अलग ही खेल दिखाकर सब कुछ उलट-पुलट कर देती है। **

अहिंसा ही विश्व में शांति का उपाय

—श्रीमती इन्दु जैन

भगवान् महावीर 26सौवां जन्मकल्याणक महोत्सव महासमिति की राष्ट्रीय कार्याध्यक्ष तथा 'टाइम्स ऑफ इण्डिया समाचार पत्र प्रकाशन समूह' की चेयरमैन श्रीमती इन्दु जैन द्वारा न्यूयार्क, अमेरिका में संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा आयोजित धर्म एवं अध्यात्म-गुरुओं के 'सहस्राब्दी विश्वशांति सम्मेलन' में दिया गया भाषण। —सम्पादक

भगवान् महावीर गहन ध्यान की मुद्रा में तल्लीन थे, उनकी आँखें बंद थीं। चारों ओर एक अद्भुत शांति और पवित्रता का वातावरण व्याप्त था। एक नन्हीं-सी चिड़िया उड़ती हुई वहाँ आई और फुदकती हुई भगवान् के पास जा बैठी। जब भगवान् ने आँखें खोलीं, तो उस स्पन्दन से नन्हीं चिड़िया डर गयी और उड़ गई। महावीर ने सोचा कि मनुष्य की आँखें खोलने की क्रिया में भी हिंसा छुपी है। 'अहिंसा' का अर्थ केवल यह नहीं है कि हिंसा न हो; बल्कि भय की भावना का भी समाप्त हो जाना और सम्पूर्ण मानवता को प्रेम में आबद्ध कर लेना है।

'अहिंसा' का अर्थ है— जाति, रंग, वर्ण, धर्म, लिंग, बिरादरी, समुदाय यहाँ तक कि प्राणी जगत् की विभिन्न जातियों की भेद-सीमाओं को पार कर दूसरों तक पहुँचना। यह चेतना की एक स्वतंत्र अवस्था है। हमारी शारीरिक, भावनात्मक और बौद्धिक अवस्थायें हमें सीमा में बांध देती हैं, हमारे रास्ते अवरुद्ध कर देती हैं, हमें छोटा बना देती हैं। यही हमारे दुःखों का कारण है। इन बंधनों और सीमाओं की अनुपस्थिति ही 'अहिंसा' है।

अहिंसा के लिए विश्व-अभियान छेड़ने की दिशा में पहला चरण अज्ञान को हटाना है। सच्चे ज्ञान में आत्म-बोध और आत्म-नियंत्रण निहित है। अहिंसा इस ज्ञान की चरम अवस्था है; क्योंकि यह दूसरों से अपने संबंधों का तादात्म्य करना सिखाती है। मोक्ष और निर्वाण की तरह अहिंसा भी परस्पर विरोधी सीमाहीन लौकिक नाटकों, सुख-दुःख, आकर्षण-विकर्षण, प्रेम-घृणा, लाभ-हानि, सफलता-असफलता, अमीरी-गरीबी, भय-साहस, जय-पराजय, मान-अपमान, सम-विषम, गुण-दोष, अच्छा-बुरा, आजादी और बंधन से मुक्त है।

संक्षेप में अहिंसा अतीत से, इतिहास से, स्मृति से मुक्ति है। यह उन सब चीजों से

मुक्ति है, जो बाधित करती हैं, रोकती हैं, अवरुद्ध करती हैं और जिनसे स्वतंत्रता का हनन होता है। इसीलिए वह कोई भी चीज या अवस्था, जिस पर उसके विपरीत का प्रभाव या असर पड़ सकता है; मुक्त नहीं है, वह स्वतंत्र नहीं है। और जो स्वतंत्र नहीं है, जो मुक्त नहीं है, जो निरपेक्ष नहीं है; वह अहिंसक नहीं हो सकता। मैं दूसरों की पीड़ा के प्रति तब तक संवेदनशील नहीं हो सकती, जब तक मैं इन परस्पर विरोधी मानवीय क्रियाओं और भावनाओं की बंदिनी हूँ। मैं दूसरे लोगों और उनकी तकलीफों के प्रति संवेदनशील कैसे हो सकती हूँ? जैनदर्शन का 'अनेकान्तवाद' इसका उत्तर देता है। वह कहता है कि सत्य को निरपेक्ष ढंग से बताने या व्यक्त करनेवाला कोई सिद्धांत या सूत्र पूर्ण नहीं है। निर्वाण सम्यग्दर्शन में निहित है, सम्यग्ज्ञान में निहित है, सम्यक्चारित्र में निहित है। अर्थात् आपका विश्वास वैसा हो, आपका कर्म वैसा हो। सरल रूप में इसकी व्याख्या यह हो सकती है कि मेरे करने का तरीका कोई अंतिम तरीका नहीं है। मेरा कहा हुआ पक्ष ही कोई एकमात्र पक्ष नहीं है। और मेरा सत्य ही अंतिम सत्य नहीं है। कई रास्ते हैं, कई पक्ष हैं और सत्य तक पहुँचने के अनेकानेक मार्ग हैं। अपनी आस्था और अपनी दृष्टि की सीमाओं में सभी सही है।

लेकिन यह परमशांति और विश्वजनीन प्रेम की अवस्था कैसे प्राप्त की जाये? इच्छायें और उनकी तुष्टि, दूसरों के साथ मेरे संबंधों का आधार नहीं बन सकती। जहाँ तक स्वयं का प्रश्न है, हमारी इच्छायें सिर्फ हमें बेचैन बनाती हैं। उन्हें पाने के लिए और जो पाया है, उसे बचाए रखने के लिए हम चिंतित बने रहते हैं। अंततः हम एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाते हैं, जहाँ उसका सुख भी नहीं ले पाते, जिसकी पहले कामना की थी और जिसे उस कामना और प्रयत्न के बाद पाया था। जहाँ तक दूसरों से संबंध के संदर्भ में इन इच्छाओं और उनकी तुष्टि की भूमिका है, उन संबंधों और मित्र परिजनों को हम अपनी इच्छाओं की तुष्टि का माध्यम बनाने लगते हैं। उन्हें हम अपनी लालसाओं की पूर्ति के लिए, एक वस्तु या उपकरण बना देते हैं। हम उनके निर्वाह की कोशिश इसलिए करते हैं, ताकि अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए जब आवश्यकता हो, मैं उनका इस्तेमाल कर सकूँ। इसीलिए जैनधर्म में अपरिग्रह का इतना ज्यादा महत्त्व है। यानि कुछ भी धारण नहीं करना, कुछ भी संचय नहीं करना, कुछ भी नहीं रखना; लेकिन यह अपरिग्रह एकमात्र लक्ष्य नहीं है। इसका प्राप्य है इच्छाओं का विग्रह, क्षुद्र-भावों पर नियंत्रण।

पश्चिम में अहिंसा की बात करना आजकल एक फैशन हो गया है, वे उसे एक शक्तिहीन हथियार मानते हैं; अहिंसा की यह गलत अवधारणा है। अहिंसा एक जीवनशैली है, यह एक आदर्श समाज के चिंतन की अभिव्यक्ति है। जो अहिंसा में विश्वास करता है, वह हिंसा का प्रतिरोध करते समय भी उस हिंसा से अप्रभावित रहता है। यह अहिंसा बार-बार होने वाली हिंसा को सोख लेती है। यह निरंतर विस्तृत होने वाली,

सबको प्रेम में लपेट लेनेवाली, प्रत्येक सजीव या निर्जीव, वस्तु या प्राणी के प्रति अपने लगाव का अनवरत विस्तार है। क्रोध, वैमनस्य या प्रतिशोध के भाव इस अहिंसा का हिस्सा नहीं हो सकते।

प्रेम और अनुराग की यह भाषा आज के युवाओं से बेहतर कौन समझेगा? अगर अहिंसा को विश्व अभियान बनना है, तो इस अभियान का नेतृत्व युवाओं को थामना होगा। पर्यावरण की रक्षा के लिए, शांति के उत्थान के लिए उन्होंने धर्म, साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता की क्षुद्र सीमाओं से बाहर निकलकर काम किया है, काम करने की अपनी भावना का परिचय दिया है। आज का प्रत्येक युवक एक विश्व-नागरिक है। पुरुष हो या स्त्री, वह प्रेम की उस शाश्वत भाषा को समझता है। प्रेम, जो केवल अहिंसा से ही साध्य है। मैं विश्व के युवाओं को नमस्कार करती हूँ, मैं अहिंसा को नमन करती हूँ, मैं उस शाश्वत, विश्वजनीन, नैसर्गिक प्रेम में विश्वास करती हूँ और उसके निरंतर विस्तार के लिए स्वयं को समर्पित करती हूँ। ❖❖

अनुमोदना का सुफल

राजा श्रेयांस ने पूर्व-भव में मुनिराज को आहारदान दिया था। उस आहारदान की विधि को अत्यन्त भक्ति एवं आदरभावपूर्वक नेवला, सिंह, शूकर एवं बन्दर —इन चार प्राणियों ने देखा और अनुमोदना की थी। उसी पुण्य के प्रताप से ये चारों प्राणी अगले भव में चक्रवर्ती भरत, बाहुबलि, वृषभसेन आदि के रूप में उत्पन्न हुए। सत्पात्रदान एवं उसकी अनुमोदना की महिमा बताते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं—

“न च ,पात्रदानेनऽनुमोदिनः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति ।”

—(धवला, सत्प्ररूपणा 1/1/85)

अर्थ:— (यद्यपि वह तिर्यच है), फिर भी पात्रदान की अनुमोदना तो कर ही सकता है, इससे रहित वह नहीं होता है। इसलिए ऐसी अनुमोदना करनेवाले तिर्यच भी सम्यग्दृष्टि होते हैं।

उपर्युक्त घटनाक्रम को कवि नयनानन्द जी ने निम्नानुसार छंदोबद्ध किया है—

“नवल सूकर सिंह मरकट कर भजन श्रद्धान ।

भये वृषभसेन आदि जगतगुरु पहुँच गये निर्वाण ।।”

इसी तथ्य की पुष्टि निम्नलिखित वाक्य से भी होती है—

“दानं पारम्पर्येण मोक्षकरणं, साक्षात्पुण्यहेतुः ।”

—(चारित्रसार, पृष्ठ 28)

अर्थ:— दान परम्परा से मोक्ष का कारण है एवं तत्काल पुण्य को बढ़ाने वाला साधन है। **

प्राकृतभाषा का स्वरूप एवं भेद-प्रभेदों का परिचय

—श्रीमती रंजना जैन

प्राकृतभाषा का संबंध बारह भाषा-परिवारों में से 'भारोपीय परिवार' से है। इस परिवार के भी आठ उपभाषा परिवार हैं। उनमें से प्राकृत का संबंध पाँचवें उपपरिवार 'भारत ईरानी' अथवा 'आर्यभाषा उपपरिवार' से है। इसकी भी तीन शाखाएँ हैं— ईरानी, दरद एवं भारतीय आर्य शाखा परिवार। इनमें से प्राकृत का संबंध 'भारतीय आर्य शाखा परिवार' से है। अतः भारतीय आर्यभाषा का ही एकरूप ही प्राकृतभाषा है।

'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति

वस्तुतः 'प्राकृत' शब्द की उत्पत्ति प्रकृति से हुई है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव। और 'प्रकृत्या भवं प्राकृतम्' अर्थात् जो स्वाभाविक रूप से उद्भूत हुई है, वही प्राकृत है। इसके अनुसार स्वभावतः जो बोला जाये, सो प्राकृत है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार विश्व के प्रत्येक मनुष्य के स्वाभाविक वागव्यवहार को हम 'प्राकृत' कह सकते हैं।

इसकी कतिपय व्युत्पत्तियाँ इसप्रकार हैं—

1. "प्रक्रियते यया सा प्रकृतिः, तत्र भवं प्राकृतम्।"
2. "प्राक्पूर्वकृतं प्राकृतं — बाल-महिलादि-सुबोधं सकल-भाषा-निबन्धभूतं वचनं प्राकृतमुच्यते।" (नमिसाधु)
3. "प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्।"
4. प्रकृतिरेव-प्राकृतं शब्दब्रह्म।"
5. "प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्।"
6. "प्राकृतेति-सकल जगज्जन्तूनां.....सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्।"

प्राकृतभाषा का सुव्यवस्थित स्वरूप एवं बहुआयामी महत्त्व समस्त प्राचीन आचार्यों मनीषियों एवं महापुरुषों ने निर्विवादरूप से स्वीकार किया है। क्योंकि विश्व के प्राचीनतम साहित्य 'ऋग्वेद' की भाषा में भी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ बहुलता से पाई जाती हैं। प्राकृत के महत्त्व को स्वीकार करते हुये वेदों की भाषा को संस्कृत एवं प्राकृत से समन्वित माना गया है— "संस्कृत-प्राकृताभ्यां यद् भाषाभ्यामन्वितं शुभम्।" —(ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकांड)

भरतमुनि ने भी कहा है—

“विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ।” —(नाट्यशास्त्र, 18/2)

महाज्ञानी आद्य शंकराचार्य ने भी प्राकृत एवं संस्कृत दोनों भाषाओं को समस्त शास्त्रों की शिरोमणि बताया है— “वाचः प्राकृत-संस्कृताः श्रुतिशिरो ।” —(ध्वन्याष्टक, 8)

प्राकृतभाषा के भेद

विद्वानों एवं भाषाविदों ने स्वीकार किया है कि मूल में प्राकृतभाषा का ढाँचा एक ही था। बाद में क्षेत्रीय उच्चारण-भेदों एवं शब्द-सम्पदा के कारण उसमें भेद आते गये। यद्यपि उत्तरवर्ती काल में प्राकृत में अनेकों भेद-प्रभेदों ने जन्म लिया, किन्तु मूल में इसके तीन ही रूप विद्वानों ने माने हैं—

1. शौरसेनी, 2. मागधी, 3. पैशाची।

इनमें भी मुख्य ढाँचा ‘शौरसेनी’ का ही था, ‘मागधी’ और ‘पैशाची’ तो मात्र क्षेत्रीय उच्चारण-भेद थे। इनका वैशिष्ट्य निम्नानुसार है—

1. शौरसेनी प्राकृत

इतिहासकारों के अनुसार मगधदेश में अफगानिस्तान से लेकर उड़ीसा तक, तथा काश्मीर से कर्नाटक तक का क्षेत्र समाहित था। इसका साहित्यिक रूप अधिक व्यवस्थित होने के कारण प्राचीन वैयाकरणों ने सर्वप्रथम इसी का व्याकरण लिखा। और फिर इसी को आधार मानकर अन्य प्राकृतों में जो अंतर थे, मात्र उन्हीं की विवेचना की तथा ‘शेषं शौरसेनीवत्’ कहकर आगे बढ़ गये। शौरसेनी प्राकृत की प्रमुख विशेषतायें निम्नानुसार हैं—

1. ऋ > इ, यथा— ऋद्धि > इडिद्धि

ऋ > अ, यथा— अग्रहीत > अगहिद

ऋ > ओ, यथा— मृषा > मोस

ऋ > ऊ, यथा— पृथ्वी > पुढ्वी

2. त > द, यथा— चेति > चेदि, संयता > संजंदा। लेकिन ‘संयुक्त’ व्यंजनवाले शब्द के ‘त’ को ‘द’ नहीं हुआ है। यथा— संयुक्तो > संजुक्तो।

3. घ > ध, यथा— तथा > तधा, अयथा > अजधा।

4. क > ग, यथा— वेदकं > वेदगं, एकतेन > एगतेण।

5. दो स्वरों के मध्यवर्ती क् ग् च् ज् त् द् और प् का लोप प्रायः नहीं हुआ है। यथा— श्रुतकेवली > सुदकेवली, गति > गदि।

6. व्यंजनलोप होने पर अवशिष्ट अ, आ के स्थान पर ‘य श्रुति’ भी मिलती है। यथा— तीर्थकरो > तित्थयोरो, वचन > वयण।

7. इसमें मात्र दन्त्य सकार का ही प्रयोग होता है, जो प्राकृत की मूलभूत विशेषता है। यथा— शीलं > सीलं।

2. मागधी प्राकृत

यह मगध प्रांत विशेषतः पूर्वी भारत की भाषा थी। इसकी मूलप्रकृति भी 'शौरसेनी प्राकृत' है। इसकी प्रमुख विशेषतायें इसप्रकार हैं—

1. अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा एकवचन में एकारान्त रूप बनते हैं, यथा—
एसो पुरिसो > एशे पुलिशे।
2. 'रिफ' के स्थान पर 'लकार' का प्रयोग होता है। यथा— पुरिस > पुलिश, कर > कल।
3. 'दन्त्य सकार' के स्थान पर 'तालव्य शकार' का प्रयोग होता है। यथा— सारस > शालश। किंतु संयुक्त अवस्था में ऐसा नहीं होता। यथा— वृहस्पति > वुहस्सदि।
4. 'ज' के स्थान पर 'य' आदेश हुआ है। यथा— जाणदि > याणदि।
5. 'च्छ' के स्थान पर 'श्च' आदेश होता है। यथा— गच्छ > गश्च।
6. 'हृदय' शब्द को 'हडक्क' आदेश होता है। यथा— हृदय > हदिय > हडक्क।

3. पैशाची प्राकृत

इसकी भी प्रकृति शौरसेनी प्राकृत ही है। इसका उत्पत्ति स्थान 'कैकय प्रदेश' माना जाता है। पैशाची प्राकृत में चीनी तुर्किस्तान के खरोष्ठी लिपि के शिलालेख एवं महाकवि गुणादयकृत 'वड्ढकहा' विशेषतः उल्लेखनीय है। वागभट्ट के अनुसार यह पिशाच नामक जनजातीय मनुष्यों की भाषा थी। इसकी कुछ विशेषतायें इसप्रकार हैं—

1. प्रायः वर्ग के तृतीय वर्ण के स्थान पर प्रथम वर्ण का तथा चतुर्थ वर्ण के स्थान पर द्वितीय वर्ण का प्रयोग मिलता है। यथा— गगणं > गकणं, मेघो > मेहो, राजा > राचा।
2. शौरसेनी में 'त' के स्थान पर होने वाले दकार के रूप पैशाची में पुनः तकार में बदल गये। यथा— होदु > होतु।
3. पैशाची प्राकृत में 'हृदय' शब्द के 'यकार' को 'पकार' हो जाता है। यथा— हृदयकं > हितपकं।
4. 'ट वर्ग' के स्थान पर 'त वर्ग' हो जाता है। यथा— कुटुंब > कुतुंब।
5. संयुक्त 'ज्ज' के स्थान पर संयुक्त 'च्च' आदेश हो जाता है। यथा— कज्जं > कच्चं, अज्जं > अच्चं।
6. दो स्वरों के मध्यवर्ती क् ग् च् ज् त् द् य् और व् का लोप प्रायः नहीं होता। यथा— श्रुतकेवली > सुतकेवली।
7. क्रियारूपों में भविष्यत्काल के 'रिस' प्रत्यय के स्थान पर 'एय्य' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। यथा— हविस्सदि > हुवेय्य।

इसप्रकार ईसापूर्वकाल में जहाँ शौरसेनी मागधी, एवं पैशाची ये तीन मूल प्राकृतें रही हैं; वहीं ईसोत्तर काल में धीरे-धीरे अवनती, प्राच्या, महाराष्ट्री, एवं अर्धमागधी आदि का विकास हुआ। पाँचवीं शताब्दी ई० तक प्राकृतों का विकास चरम सीमा पर था।

प्राचीनकाल में जहाँ 'सामान्य प्राकृत' संज्ञा से 'शौरसेनी प्राकृत' को जाना जाता था। वहीं पाँचवीं शताब्दी ई० तक यह संज्ञा 'महाराष्ट्री प्राकृत' लिये प्रयुक्त होने लगी थी। प्राकृतभाषा के इन परवर्ती प्रभेदों का परिचय निम्नानुसार है—

महाराष्ट्री प्राकृत

सामान्यतः महाराष्ट्र में बोली जाने वाली प्राकृत को 'महाराष्ट्री प्राकृत' कहा गया है। किंतु यह शौरसेनी प्राकृत का ही विकसित रूप होने से इसका क्षेत्रविस्तार शौरसेनी के समान व्यापक रहा है। 'छठवीं' शताब्दी के अलंकारशास्त्र के विद्वान महाकवि दण्डी ने 'महाराष्ट्री प्राकृत' को 'सूक्तिरूपी रत्नों का सागर' कहा है—

“महाराष्ट्रश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्रकृतं विदुः ।

सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥”

इसमें शौरसेनी प्राकृत से इतनी ही विविधता पाई जाती है कि इसमें सुविधा की दृष्टि से दो स्वरों के मध्य आने वाले क, ग, च, ज, त, द, प् वर्णों का लोप कर दिया जाता है। और जब लुप्त वर्णों के कारण असुविधा होने लगती है, तो 'य' एवं 'व' वर्ण का बीच में आगम कर असुविधा को दूर कर दिया जाता है। इसे 'यश्रुति' और 'वश्रुति' भी कहते हैं।

प्राच्या और अवन्ती

'नाट्यशास्त्र' में विदूषक आदि की भाषा को 'प्राच्या' कहा गया है, और धूर्तों द्वारा बोली जाने वाली बोली को 'आवन्ती' कहते हैं। मार्केण्डय ने 'प्राकृत सर्वस्व' में 'शौरसेनी' से ही 'प्राच्या' का उद्भव बताया है और 'आवन्ती' को 'महाराष्ट्री' और 'शौरसेनी' के बीच की 'संक्रमणकालीन अवस्था' बताया है।

अर्धमागधी

श्वेताम्बर जैनआगमों की भाषा को 'अर्धमागधी' कहा गया है। इसे 'ऋषियों की भाषा' या 'आर्ष' भी कहा गया है। वैयाकरणों ने शौरसेनी से प्रभावित मागधी भाषा माना है। तथा इसका प्रचलनकाल ईसोत्तर तृतीय-चतुर्थ शताब्दी से माना है। इसकी कोई स्वतंत्र विशेषता न होने से किसी भी वैयाकरण ने इसका व्याकरणिक परिचय नहीं दिया है। किसी भी नाटक में किसी भी वर्ण के पात्रों द्वारा इसका प्रयोग न मिलने से यह सिद्ध हो जाता है कि यह भाषा लोकभाषा नहीं थी, अपितु कृत्रिमरूप से घटित की गई थी। इसमें कहीं-कहीं तो संस्कृत के प्रयोग या संस्कृत की पद्धति पर आधारित प्रयोग मिलते हैं। तो कहीं शौरसेनी से भिन्नता बताने के लिये 'ण' वर्ण की जगह 'न' वर्ण का प्रयोग किया जाता है। परन्तु ऐसे प्रयोगों का कोई निश्चित आधार न होने से इसके नियम नहीं बनाये जा सके और इसीलिये ये भाषा लोकभाषा न बन सकी। और न ही यह लौकिक विद्वत्जनों के लिये उपयोगी हो सकी।



जैनदर्शन में 'जिन' शब्द की व्याख्या

—डॉ० दयाचन्द्र साहित्याचार्य

जैनदर्शन में कथित मूल छह द्रव्यों में जीव (आत्मा) का कथन सर्वप्रथम इसकारण किया गया है कि वह आत्मा अन्य सब द्रव्यों में प्रधान एवं ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणों का भण्डार है। आचार्य जिनसेन ने 'सहस्रनामस्तोत्र' में कहा है—

“अलमास्तां गुणस्तोत्रमनन्तास्तावका गुणाः।

त्वां नामस्मृतिमात्रेण पुर्युपासिसिषामहे।।”

—(सहस्रनाम-पीठिका, पद्य 33)

अर्थ:— हे भगवन्! यद्यपि आपके आत्मा के गुण अनन्त हैं, उनका स्तवन नहीं किया जा सकता है; तथापि 1008 नामों के स्मरणमात्र से आपकी उपासना भक्तिवश कर रहे हैं।

आगे सहस्रनामों का स्मरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि—

“जिनो जिष्णुरमेयात्मा विष्णुरीशो जगत्पतिः।” —(सहस्रनाम प्र० अ०, पद्य 6)

अर्थात् हे भगवन्! आप “जितः ज्ञानावरणादिकर्मशत्रून् जयति-इति जिनः”, अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मशत्रु को जीतनेवाले होने से 'जिन' हैं। आप 'जिष्णु' हैं अर्थात् कर्म-शत्रुओं को जीतने का आपका स्वभाव है।

पूज्यपाद आचार्य के मत में 'जिन' की व्याख्या—

“जितमद-हर्ष-द्वेषा, जितमोह-परीषहा जितकषायाः।

जितजन्म-मरण-रोगाः, जितमात्सर्या जयन्तु जिनाः।।”

—(अर्हद्भक्ति, पद्य 10)

सारांश :— ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागद्वेष आदि भावकर्म एवं जन्म-मरण आदि मोकर्मों के विजेता 'जिन' विश्व में जयवन्त हों।

आचार्य विद्यानन्द स्वामी-सम्मत 'जैन' शब्द की व्याख्या निम्नानुसार है—

“प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थ-बोधदीधितिमालिने।

नमः श्रीजिनचन्द्राय, मोहध्वान्तप्रभेदिने।।” —(आप्तपरीक्षा, मंगलाचरण)

इस मंगलाचरण में जिनरूपीचन्द्र को अर्थात् चन्द्रप्रभ जिन को अथवा सकलजिन

(परमात्मा) समूह को नमस्कार किया गया है। 'जिन' शब्द की व्युत्पत्ति "कर्मारतीन् जयतीतिजिनः" —अर्थात् रागद्वेष-मोह आदि कर्मशत्रुओं पर जो पूर्णतः विजय प्राप्त कर लेते हैं, उनको जैनदर्शन में 'जिन' कहा गया है।

पण्डितप्रवर आशाधर-सम्मत 'जिन' की व्याख्या है—

“जाता जैनकुले पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावाद् गुणैः ।”

कर्मशत्रून् जयन्ति इति जिनाः, ते देवताः येषां ते इति जैनाः, तेषां कुलं तस्मिन् जैनकुले समुत्पन्नाः । —(सागर धर्माृत, अ० 2, पद्य 20)

सारांशः — जिन्होंने ज्ञानावरणादि कर्मशत्रुओं को जीतकर अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति-सम्यक्त्व आदि आठ अक्षय गुणों को प्राप्त कर लिया है, वे 'जिन' महात्मा जिन मानवों के देवता हैं, वे मानव 'जैन' संज्ञक हैं; उनकी सन्तान भी 'जैन' संज्ञक है।

समन्तभद्राचार्य द्वारा मान्य 'जिन' शब्द की व्याख्या इसप्रकार है—

“श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः, श्रेयः प्रजाः शासजेयवाक्यः ।

जिनः सकल कषायेन्द्रियजयात् जिनः ।।”

अर्थात् सम्पूर्ण कषाय तथा इन्द्रिय-भोगों पर विजय प्राप्त करने से जिन महात्माओं ने अक्षय ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुणों को प्राप्त कर किया है; उन श्रेयांस जिनदेव ने जनता को मुक्ति के मार्ग का उपदेश दिया। —(वृहत्स्वयंभूस्तोत्र, श्रेयांसस्तुति, पद्य 1)

आचार्य श्री योगीन्द्रदेव की दृष्टि से आत्मा के भेद निम्नानुसार हैं—

“मूढु-वियक्खणु बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ ।

देहु जि अप्पा जो मुणइ, सो जणु मूढु हवेइ ।।

—(परमात्मप्रकाश, दोहा 13)

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा आत्मा के कोई भेद नहीं, वह आत्मा एक शुद्ध अखण्ड नित्य ज्ञान-दर्शनादि स्वभावी है। परन्तु पर्यायार्थिनय की अपेक्षा कर्मसंयोग से आत्मा के तीन भेद होते हैं। (1) बहिरात्मा, (2) अन्तरात्मा, (3) परमात्मा। जो देह आदि बाह्य पदार्थों को और आत्मा का एकरूप श्रद्धान करता है, वह बहिरात्मा कदापि 'जिन' नहीं कहा जा सकता, वह मोक्षमार्गी नहीं है। जो भेदविज्ञानी, परमसमाधि में स्थित 24 परिग्रह से विहीन आत्मा है, वह अन्तरात्मा तीन प्रकार होता है। (1) उत्तम अन्तरात्मा, (2) मध्यम अन्तरात्मा, (3) जघन्य अन्तरात्मा। जघन्य अन्तरात्मा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, भेदविज्ञानी अवरिति सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी 'एकदेशजिन' कहे जाते हैं।

मध्यम अन्तरात्मा के भी तीन भेद होते हैं— (1) जघन्य मध्यम-अन्तरात्मा — पंचमगुण स्थानवर्ती एकदेशव्रती श्रावक सम्यग्दृष्टि जघन्य मध्यम-अन्तरात्मा कहे जाते हैं। ये भी एकदेशजिन हैं। षष्ठ गुणस्थानवर्ती, 24 परिग्रहविहीन महाव्रती सम्यग्दृष्टि मध्यम मध्यम-अन्तरात्मा कहे जाते हैं। सप्तमगुणस्थान के सातिशय भाग से लेकर द्वादश

गुणस्थान-पर्यन्त क्रमशः कर्मों का क्षय करनेवाले दिग्म्बर परमध्यानी मुनि हीनाधिक परिणामों के कारण उत्तम अन्तरात्मा जिन कहे जाते हैं। क्योंकि आत्मा भी क्रमशः कर्मों का क्षय करती है। स्पष्ट वर्णन यह है कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर द्वादश गुणस्थान तक जीव तरतमभावों की अपेक्षा क्रमशः 'एकदेशजिन' कहे जाते हैं। "सप्तप्रकृतिसंक्षयः कृत्वेकदेशजिनाः सद्दृष्टयः श्रावकादयः ।" परमात्मा दो प्रकार वाले हैं (1) निकल परमात्मा, (2) सकल परमात्मा। ज्ञानावरणादि घाति-कर्मों के विजेता अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि गुणचतुष्टय से शोभित, अष्टप्रातिहार्य से विभूषित, समवसरण में मोक्षमार्ग के प्रणेता 46 अतिशयों से परिशोभित महात्मा 'सकल परमात्मा' कहे जाते हैं। इनको विशेष पूजातिशय होने के कारण 'अर्हन्त' कहते हैं। परमौदारिक चरमोत्तम शरीर होने के कारण 'जीवन्मुक्त' कहते हैं एवं 'सकल परमात्मा' भी कहते हैं। चतुर्थगुणस्थान से द्वादश गुणस्थान-पर्यन्त 'जिन' आत्माओं में इन्द्र (श्रेष्ठ) होने के कारण 'जिनेन्द्र' या 'जिनकल्प' कहे जाते हैं।

“सकल निकल परमात्म द्वैविध, तिनमें घाति-निवारी।

श्री अरिहन्त सकल परमात्म, लोकालोक-निहारी ॥”

—(कविवर पं० दौलतराम जी)

“सकलज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्दरस लीन।

सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरि-रज-रहस-विहीन ॥”

—(कविवर पं० दौलतराम जी)

ये अरिहन्त चार घातिकर्म रूप शत्रुओं के विजेता होने से 'अर्धनारीश्वर' प्रसिद्ध हैं अर्थात् अर्ध=चार घाति कर्मरूप शत्रु जिनके नहीं हैं, (अर्थात् आधे अरि नहीं हैं) ऐसे ईश्वर को 'अर्धनारीश्वर' कहते हैं। 'सहस्रनामस्तोत्र' में कहा है—

“अर्ध ते नारयो यस्माद् अर्धनारीश्वरो स्मृतः ।

त्वामन्धकान्तकं प्राहुः मोहान्धासुरमर्दनात् ॥”

—(जिनसेनाचार्य - सहस्रनामपीठिका, पद्य 8)

अर्ध अरयः यस्य न सन्ति इति अर्धनारिः, स चासौ ईश्वरश्च इति अर्धनारीश्वरः= अर्धजिनः। मोहान्धासुरमर्दनात्-अन्धकान्तकः अर्हद्देवः। प्राकृते-अरिहंत देवो।

द्वितीय परमात्मा-सिद्धपरमात्मा

सर्वोत्कृष्ट सिद्ध परमात्मा के विषय में परमात्मप्रकाश में कथित है—

“अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्म-विमुक्के जेण।

भैल्लिवि सयलु वि दव्वु, परु सो परु मुणहि मणेण ॥”

—(योगीन्द्रदेव, परमात्मप्रकाश, पद्य 15)

सारांश — ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से तथा राग-द्वेष-मोह आदि भावकर्मों से विहीन,

देह आदि नोकर्म से रहित, केवलज्ञानादि आठ गुणों से सम्पन्न आत्मा 'सिद्ध परमात्मा' होता है। वह सम्पूर्णगुण-युक्त निकल परमात्मा, उत्कृष्ट जिनेन्द्र, सम्पूर्णजिन और सर्वजिनेश्वर नाम से भी प्रसिद्ध है। इसप्रकार आत्मद्रव्य की अपेक्षा 'जिन' शब्द का विभाजन किया गया।

विशुद्ध परिणामों की अपेक्षा 'जिन' का वर्गीकरण

यथायोग्य कर्मों के उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय की अपेक्षा परिणाम-विशुद्धि के कारण असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होने से 'जिन' शब्द का वर्गीकरण इसप्रकार है—

“सम्यग्दृष्टिश्रावक-विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक-क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।” —(तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र 45)

“सम्मत्तुपुपत्तीये, सावयविरदे अणंतकम्मसे।

दंसणमोहक्खवगे, कसायउवसामगे य उवसंते।।

खवगे य खीणमोह, जिणेसुदव्वा असंखगुणिदकमा।

तवविवरीया काला, संखेज्जगुणक्कमा होति।।”

—(गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 66-67)

सारांश — (1) सातिशय, भद्रपरिणामी, सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव के पूर्व में मिथ्यात्वदशा में जो कर्मों की निर्जरा (एकदेशक्षय) होती थी, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है तथा समय, पूर्व से संख्यातगुणा हीन होता है, यह विचित्र घटना है। (2) सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव के अन्तर्मुहूर्तकाल में जो कर्मों की निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी अधिक कर्मों की निर्जरा, चतुर्थगुणस्थानवर्ती शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव के होती है तथा समय संख्यातगुणित हीन व्यतीत होता है। इसीप्रकार (3) श्रावक (पंचम गुणस्थानवर्ती), (4) विरक्तमुनिराज (षष्ठगुणस्थानवर्ती), (5) अनन्तानुबन्धी का विसंयोजक जीव, (6) दर्शनमोहक्षपक, (7) कषायोपशमक जीव, (8-9-10 गुणस्थानवर्ती जीव), (8) उपशान्तकषायवाला जीव (11वां गुणस्थानी), (9) कषायक्षपक जीव (8-9-10वां गुणस्थानी जीव), (10) क्षीणमोह (12वां गुणस्थानी जीव), (11) सयोगकेवलीजिन (13वें गुणस्थानी), (12) समुदघातगतकेवलीजिन, (13) अयोगीजिन (14वें गुणस्थानवर्तीजिन)। इन स्थानों में भी क्रमशः पूर्व से असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा अधिक होती है और पूर्व से अग्रिम स्थानों में समय संख्यातगुणिक हीन व्यतीत होता है। इससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का प्रभाव सिद्ध होता है, जिससे असंख्यातगुणे भावों की विशुद्धि वृद्धिगत होती है और समय संख्यातगुणा हीन व्यतीत होता है। इसप्रकार गुणश्रेणी निर्जरा (एकदेश कर्मक्षय) के माध्यम से एकदेशजिन, मध्यमजिन, जिनेन्द्र और सर्वोत्कृष्ट जिनेन्द्र में वर्गीकरण होता है।

कर्मक्षय की अपेक्षा 'जिन' शब्द का वर्गीकरण

चतुर्थगुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में नरकायु, तिर्यगायु, देवायु, अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-काया-लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति — इन दश प्रकृतियों का क्षय रहता है। नवमें गुणस्थान में 36 प्रकृतियों का सत्त्वक्षय, दशम गुणस्थान में संज्वलनलोभ का क्षय, द्वादश गुणस्थान में निद्रा आदि 16 प्रकृतियों का क्षय, चतुर्दश गुणस्थान के उपान्त समय में 72 (असाता वेदनीय आदि) प्राकृतियों का क्षय, अन्त समय में सातावेदनीय आदि 13 प्रकृतियों का क्षय कर यह आत्मा परमसिद्ध जिनेन्द्र परमात्मा हो जाता है। इसप्रकार गुणस्थानों के क्रम से क्रमशः कर्मों पर विजय-प्राप्त कर ज्ञानदर्शन सुख वीर्य आदि गुणों को विकसित करते हुए यह आत्मा एकदेशजिन मध्यमजिन, जिनेन्द्र और सर्वोत्कृष्ट जिनेश्वरपद को प्राप्त करता है।

सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा 'जिन' आत्मा का वर्गीकरण चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक आत्माओं के हीनाधिक में मति-श्रुत-अवधिज्ञान हो सकता है। मनःपर्यय ज्ञान 6वें से 12वें गुणस्थान तक हो सकता है। केवलज्ञान 13वें, 14वें गुणस्थानों में तथा सिद्ध भगवान् के होता है। सिद्धपरमात्मा में सादि-अनन्तकाल तक केवलज्ञान होता है। मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के अनन्तर भी केवलज्ञान हो सकता है। मति श्रुत-अवधिज्ञान तथा मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय के अनन्तर भी केवलज्ञान हो सकता है और केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के क्षय से होता है। इन गुणस्थानों में भी यथायोग्य-यथाक्रम से जिन-व्यवहार ज्ञातव्य है।

—(करणानुयोग दीपक, भाग 1, पृ० 73)

“न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-समं नान्यत्तनूभृताम् ॥” —(समन्तभद्राचार्य)

“नरत्वेपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतनाः।

पशुत्वेपि नरायन्ते, सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः ॥ —(पण्डितप्रवर आशाधर)



धन की पवित्रता

“शुद्धैर्धनैर्विर्वर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।

न हि स्वच्छाम्बुभिर्पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥”

—(आचार्य गुणभद्र, आत्मानुशासनम्, 45)

अर्थः— जैसे निर्मल जल से नदी, तालाब, समुद्र आदि कभी भरने नहीं हैं; वे बारिश के मटमैले जल से पूर से ही भरते हैं; उसीप्रकार सज्जन भी शुद्ध धन से सम्पत्तिशाली नहीं बन पाते हैं, उनमें कुछ न कुछ अशुद्धि अवश्य होती है।

भाषा, विभाषा और शौरसेनी

—डॉ० माया जैन

मूलभाषा एक है; परन्तु व्यवहार, लोकव्यवहार, साहित्यप्रयोग एवं क्षेत्रीय दृष्टि से उसका विभाजन अवश्य किया जाता है। जहाँ विकास और विस्तार के कारण शाखा-प्रशाखा, परिवार उप-परिवार एवं भाषा-उपभाषा आदि का स्वरूप सामने आता है; वहीं सामान्य दृष्टि से भाषा के दो रूप उपस्थित होते हैं :—

1. जनसाधारण में प्रयुक्त भाषा और 2. साहित्य में प्रयुक्त भाषा।

सर्वप्रथम भाषा की प्रक्रिया आदान-प्रदान एवं संकेतों के कारण विकास को प्राप्त होती है। जो जिसप्रकार जिस रूप में था, जिस तरह विविध जातियों, वर्गों आदि में बोली जाती है; वह जनप्रचलित जनता की बोलचाल की भाषा, लोकभाषा या जनसाधारण की भाषा कहलाती है। कालान्तर में 'जनसाधारण की बोली' व्याकरण के अनुशासन में बंधकर 'भाषा' बन जाती है। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है— "जनसाधारण व्याकरण के नियमों से अपरिचित होने के कारण स्वेच्छानुसार स्वतंत्र रूपों का निर्माण करते हैं, जिससे प्राचीन रूपों में परिवर्तन हो जाता है। इस स्थिति में प्राचीन भाषा तो साहित्य की भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है और नवीन भाषा, लौकिक भाषा, जनभाषा प्राकृतभाषा का रूप धारण कर लेती है।"

—(प्राकृतभाषा, पृष्ठ 10)

डॉ० हरदेव बाहरी ने 'प्राकृतभाषा और उसके साहित्य के अनुशीलन' में कहा है कि "प्राचीन और मध्यकालीन आर्यभाषाओं का विकास किसी जनभाषा, प्राकृतभाषा से ही होता है। अतः ज्ञान और सभ्यता के विकास के साथ ही साथ भाषा का भी निरन्तर प्रसार होता रहता है। मनुष्य जिस वातावरण में रहता है, वह अपनी सुविधा एवं सुगमता के अनुसार बोलियों का विकास करता है। जिस बोली का बहुत से व्यक्ति बहुत समय तक प्रयोग करते रहते हैं, वह शैली कुछ समय के लिए किन्हीं विशेष ध्वनियों तथा किन्हीं विशेष रूपों पर आश्रित हो जाती है।"

—(प्राकृतभाषा, पृष्ठ 13)

भाषा के जनसाधारण के प्रयोग इस बात को भी स्पष्ट करते हैं कि प्राचीन आर्यभाषा जो उस समय की जनभाषा रही होगी, वही वेदों की भाषा 'छान्दस्' और लोकप्रचलित जनसाधारण में बोली जानेवाली उस समय की बोली जानेवाली भाषा प्राकृत थी, अपना

स्थान बना पायी। लोकसाहित्य एवं लोकरुचि से अनुशासित होकर जैसे ही क्षेत्रीयता के अनुसार रचनाधर्मिता को अपनाया होगा या रचनाधर्मिता जिस क्षेत्र में ढली होगी, वह अपना प्रभाव अवश्य डालने में समर्थ हुई होगी। जनता की भाषा प्राकृत का यही स्वरूप रहा होगा। इसका इतना प्रयोग या प्रवाह हुआ कि उसमें साहित्य भी लिखा गया, और एक समय तो प्राकृत सभी विधाओं में प्रयुक्त होने के कारण तथा जन-जन में स्थान बनाने के कारण भी लम्बे समय तक अपना प्रामाणिक रूप सुरक्षित करती रही। सर रिचर्ड पिशेल ने तो यहाँ तक भी कह दिया कि “प्राकृत-भाषाओं की जड़ें जनता की बोलियों के भीतर जमी हुई हैं। और इनके मुख्य तत्त्व आदिकाल में जीती-जागती और बोली जानेवाली भाषा से लिये गये हैं। किन्तु बोलचाल की वे भाषायें जो बाद में साहित्यिक भाषाओं के पद पर प्रतिष्ठित हुई, संस्कृत की भाँति ही बहुत ठोकी-पीटी गई; ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाये।” —(प्रा०भा० का व्याकरण, पृ० 14)

‘गउडवहो’ महाकाव्य में प्राकृतभाषा को जनभाषा माना है। इस काव्य में दृष्टान्त द्वारा कथन किया कि “जिसप्रकार जल समुद्र में प्रवेश करता है और समुद्र से ही वाष्परूप से बाहर निकलता है। इसी तरह प्राकृतभाषा में सब भाषायें प्रवेश करती हैं और इस प्राकृतभाषा से ही सब भाषायें निकलती हैं” :—

“सयलाओ इमं वाया विसन्ति एँतो य णेति वायाओ ।

एँति समुद्ं चिय णेति सायराओ च्चिय जलाइं ।।”

अर्थात् जनभाषा से ही समस्त भाषाओं का विकास स्वीकार किया है। शौरसेनी प्राकृतभाषा में स्वतंत्र रूपों की निर्माण-प्रक्रिया के कारण इसका अनुशासन जो भूतबलि, पुष्पदन्त, धरसेन, कुन्दकुन्द, यतिवृषभ आदि के प्रयोगों में है; वही बीसवीं शताब्दी के प्रयोगों में भी देखा जा सकता है। पद, वाक्य, ध्वनि और अर्थ —इन चारों अंगों को विशेष अनुशासन में रख दिये जाने के उपरान्त भी शौरसेनी के जो रूप थे, वे अब भी हैं।

जैसे पंचमी विभक्ति के प्रयोगों में आदो, आदु और सप्तमी विभक्ति एकवचन में ‘म्हि’ प्रत्यय का प्रयोग तथा धातु क्रिया रूपों में हवदि, होदि आदि एवं थ ध्वनि का घ होना भी इसकी विशेषता है। जो प्राचीन सूत्र-ग्रन्थों में है, वही अब भी है। साहित्य-निबद्ध शौरसेनी प्राकृत ‘छक्खंडागमसुत्त’ में सूत्र रूप में है। साहित्य-स्वरूप में सूत्र का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। उसमें भी लय, यति एवं गति आदि विद्यमान रहती है। उदाहरण के लिये एक सूत्र द्रष्टव्य है—

“उक्कस्सादो अणुक्कस्सा समऊणा ।” —(4/2, पृ० 396)

इस सूत्र को छोटा या बड़ा नहीं किया जा सकता। इसीतरह “उक्कस्सा वा अणुक्कस्सा वा” इस सूत्र में ‘वा’ का प्रयोग दो बार हुआ है। एक वाक्य को जोड़नेवाला है और दूसरा भी को स्थान देता है। काव्यकला में दोनों ही पक्षों को स्थान दिया जाता

है। यहाँ 'वा' को हटा सकते हैं; पर उच्चारण में पूर्ण गति नहीं रहेगी और अर्थ में भी परिवर्तन हो जायेगा। इसलिये सूत्रकारों ने जो सूत्र दिये, वे भी अनुशासन से युक्त हैं। गाथायें तो पद, वाक्य, ध्वनि और अर्थ — इन चारों अंगों को ही समाहित किये रहती हैं। सूत्र भी इसी तरह के हैं।

भाषा और लिपि

प्रत्येक भाषा की निश्चित लिपि होती है। जो उसके स्वरूप का ज्ञान कराती है। और वही उसके महत्त्व को भी प्रतिपादित करती है। वर्णों के लिखने की विधि का नाम लिपि है। लिपि का सामान्य अर्थ लिखावट है। अर्थात् लिखने की विधि से पूर्व मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त सार्थक ध्वनि-संकेतों के माध्यम से बोलना प्रारंभ किया जाता है। जिसे वाणी या भाषा कहा जाता है। जब वे ही प्रयोग या ध्वनि-संकेत वर्णों के रूप धारण कर लेते हैं, तो वर्ण की जो लिखावट या बनावट सामने आती है; वही लिपि कहलाती है। बहुलिपिवाले इस भारत क्षेत्र में एक लिपि निश्चित नहीं हुई; क्योंकि यह राष्ट्र बहुविध है। वर्णों में विभक्त है, अतः भारत के प्रमुख प्राचीन लिपियों में कुछ प्रचलित लिपियाँ हैं और कुछ अप्रचलित लिपियाँ हैं। परन्तु दोनों के आकलन से 'देवनागरी लिपि' की प्रमुखता प्रगट होती है।

लिखित रूप में भिन्न-भिन्न ध्वनियों के अनुसार वर्णों का वर्गीकरण किया जाता है। जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक भाषा के वर्णों के रूप भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। और उसी के कारण लिपि में भी भिन्नता आ जाती है। परन्तु यह तो निश्चित है कि भाषा, भावों की सफल अभिव्यक्ति का माध्यम है, तो लिपि उसके लिखितरूप का प्रकाशन है।

—(हिन्दी भाषा एवं रचना, पृ० 5)

भारत की प्रमुख लिपियाँ

ब्राह्मी, खरोष्ठी, गुप्त तथा कुटिल आदि।

प्रचलित लिपियाँ

देवनागरी, बांग्ला, तमिल, गुरुमुखी आदि।

अतिरिक्त लिपियाँ

उड़िया, तमिल, मलयालम, गुजराती, उर्दू आदि।

देवनागरी लिपि

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, मराठी, कोंकणी, नेपाली आदि भाषायें। देवनागरी लिपि में लिपिबद्ध मिलने से प्राचीन भारतीय भाषाओं का भाषा रूप-विज्ञान, प्रक्रिया आदि सभी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। शौरसेनी प्राकृत का भी देवनागरी लिपि से संबंध है। इसके अतिरिक्त अर्द्धमागधी, पालि, मागधी आदि प्राकृतों के स्वरूप एवं बनावट के

अध्ययन से देवनागरी लिपि का ही बोध होता है।

भाषा के रूप

“अक्षरगदा अणक्षरगदा” भाषा अक्षरगत भी है और अनक्षरगत है। और “सोर्दिदियस्स विसयो” श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, जो मूलतः लिखित, सांकेतिक और उच्चरित इन तीन रूपों के लिये हुये है। इसके अंग प्रत्यंग में पद, वाक्य, वर्ण आदि का जो स्वरूप विद्यमान है, उसके कारण भाषा के अनेक रूप भी हैं। अनेक प्रकार की बोलियाँ हैं। एवं अनेक भाषायें भी हैं। भाषा का वैशिष्ट्य व्याकरण और साहित्य से ही आता है। अतः जो कुछ कहा गया या पूर्व में बोला जा चुका है, उसी का व्यवहारिक रूप कई तरह से अपना स्थान बना लेता है। जिसे प्रचलित भाषा, स्थानीय भाषा, प्रान्तीय भाषा, राजभाषा, राष्ट्रीय भाषा, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा एवं साहित्यिक भाषा इत्यादि।

प्राचीनकाल में कई प्रकार के परिष्कृत रूप सामने आये। कुछ शिष्ट और कुछ देशीकरण के कारण प्रतिष्ठित भी हुए। ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद — इन चारों वेदों की भाषा को इनके साहित्यिक स्वरूप के आधार पर ‘छान्दस्’ कहा गया। वैदिक युग में जो प्रचलित रूप थे या जन-जन में बोले जाने वाले प्रयोग जैसे ही साहित्यिक रूप को प्राप्त होते हैं, वैसे ही उनका स्थान भी निर्धारित हो जाता है। जो वचन भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध के रूप में प्रचलित थे, वे ‘आर्ष’ के स्वरूप को प्राप्त हुए, और आर्षवचन का जैसे-जैसे अध्ययन किया गया, वैसे-वैसे उनके नामकरण का भी निर्धारण हुआ। शूरसेन की प्रमुखता से ‘शौरसेनी’, मगध की विशेषता से ‘मागधी’ आदि नामकरण क्षेत्रीयकरण के कारण प्रसिद्ध हुए। यही कालान्तर में स्थान-अपेक्षा और साहित्य-दृष्टि से पृथक्-पृथक् विभाषाओं के स्वरूप को प्राप्त हुये।

विभाषा

विविध प्रकार के भाषण अर्थात् कथन को ‘विभाषा’ कहते हैं। विभाषा, प्ररूपणा, निरूपणा और व्याख्यान — ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। विविहा भासा विहासा परूवणा गिरूवणा वक्खाणमिदि एयट्ठो। —(षट् 1/6/5)

अधिकांश रूप में भाषाओं के शब्दों के वैषम्य और साम्य के कारण किसी भाषा को पृथक् कर पाना अत्यंत कठिन है। और उसमें भी आर्यभाषाओं के विकास के परिप्रेक्ष्य में अत्यधिक कठिन हो जाता है। क्योंकि आर्यभाषाओं के विकास में प्राकृत और संस्कृत दोनों ही हैं। जबकि कुछ भाषावैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि वैदिक युग की भाषा के अतिरिक्त शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पेशाची, चूलिका एवं अन्य द्रविण परिवार की भाषायें एवं विभाषायें हैं। विभाषाओं का या उपभाषाओं का स्वरूप वैदिक काल से ही प्रचलित हो गया था। जिसे देश्य भाषाओं के प्रभाव के कारण तीन विभाषाओं में विभक्त किया गया—

‘क’ उदीय या उत्तरीय विभाषा

‘ख’ मध्यदेशीय विभाषा

‘ग’ प्राच्य या पूर्वीय विभाषा

प्राकृतभाषा का विकास मध्य भारतीय आर्यभाषा ‘छान्दस्’ से हुआ है। जो उस समय की जनभाषा रही होगी। लौकिक संस्कृत या संस्कृत भाषा भी ‘छान्दस्’ से विकसित है। अतः विकास की दृष्टि से प्राकृत और संस्कृत दोनों सहोदरा हैं। दोनों एक ही स्रोत से उद्भूत हैं।

—(प्राकृत साहित्य, पृ० 9)

जनभाषा प्राकृत का साहित्यिक स्वरूप

ऋग्वेद से वेदांग तक भाषा का स्वाभाविक प्रवाह जैसे ही साहित्य के स्वरूप को प्राप्त करता है, वैसे ही विकृत विभाषाओं का भी स्थान दिखाई देने लगता है। ‘द्रविण’ एवं ‘मुण्डा’ आदि भाषाओं के तत्त्व में असंस्कृत एवं जो विकृत रूप थे, वे देश्य या विभाषा के स्वरूप को भी प्राप्त हुए। परन्तु वैदिक भाषा के समानान्तर ध्वन्यात्मक तथा रचना के वैशिष्ट्य को लिए हुए जो भाषा आर्यभाषा में स्थान बना पाई, वह जनभाषा प्राकृत कहलाई। इसका विशाल साहित्य शताब्दियों से यही ध्वनित कर रहा है कि भारत की प्राचीन भारतीय संस्कृति में आर्यों ने जब से विस्तार किया, तभी से प्राकृतभाषा का अपना स्थान है। आगमों में भी ‘आर्य’ और ‘अनार्य’ या ‘आर्य’ और ‘म्लेच्छ’ —इन दो नामों का उल्लेख किया जाता है। प्राकृतभाषा और उसके साहित्य का स्थान आर्यभाषा में है।

आर्य और अनार्य

पाँच भरत क्षेत्र, पाँच ऐरावत क्षेत्र और पाँच महाविदेह —इन पन्द्रह क्षेत्रों में ‘आर्य’ और ‘म्लेच्छ’ दोनों प्रकार के मनुष्य रहते हैं। ‘आर्य’ वे हैं, जो धर्मयुक्त अहिंसा, सत्य आदि के निकट हैं और जिनके वचन शिष्ट भी हैं। जिनके वचन तथा आचार-विचार अव्यक्त हैं, वे अनार्य या म्लेच्छ हैं। आर्य में भी तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारण और विक्रिया आदि ऋद्धि-प्राप्त आर्य हैं। तथा जो ऋद्धि से रहित हैं, वे क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य, भाषार्य, ज्ञानार्य, दर्शनार्य और चरित्रार्य — के भेद से नौ प्रकार के हैं। उन सभी के भी अनेक उपभेद हैं। ‘भाषार्य’ प्राकृतभाषा में बोलते हैं, उनमें भी ब्राह्मीलिपि की प्रमुखता है। ‘ब्राह्मी लिपि’ के लेखन प्रकार निम्न हैं— ब्राह्मी, यवनानी, दोषापुरिका, खरोष्ट्री, पुष्करशारिका, भोगवतिका, प्रहरादिका, अन्ताक्षरिका, अक्षरपुष्टिका, वैनयिका, निहविका, अंकलिपि, गणितलिपि, गन्धर्वलिपि, आदर्शल्लिपि, माहेश्वरी, तामिली, द्राविड़ी और पौलिन्दी।

—(प्रज्ञापना, पृ० 88-107)

भाषा अवबोध बीजरूप है। उसके स्वरूप भेद-प्रभेद बोलनेवाला व्यक्ति आदि क्या प्रगट कर रहा है या किन विचारों को व्यक्त कर रहा है? —यह भाषा-वर्गणा की

परिणति है, अर्थात् जिस समय में जो भाषा बोली जाती है, उस समय में वही वाणी क्षेत्रीयता के कारण भाषा के नामकरण को प्राप्त हो जाती है। और उसी समय अन्य भाषा-विभाषा या अभाषा जानी जाती है। भाषा-वर्गणा का यही संकेत है।

श्रुतज्ञान के अध्ययन से भी यह संकेत होता है कि एक-एक अक्षर की वृद्धि से बढ़ता हुआ पद समास-संघात को प्राप्त हो जाता है। अक्षर और अनाक्षर दोनों ही अपने-अपने स्थान को सुरक्षित करते हैं। जितने अक्षर हैं, उतने ही श्रुतज्ञान हैं; क्योंकि एक-एक अक्षर से एक-एक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है। 'छक्खंडागमसुत' में इनके विकल्पों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया और यह भी कथन किया गया है कि एक-एक अक्षर से एक-एक श्रुत की जिस रूप में उत्पत्ति होती है, वे वर्गाक्षर 25 हैं, अंतस्थ चार, और उष्मा अक्षर चार तथा 33 व्यंजन है। स्वर, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से सत्ताईस है। प्राकृत में भी इनका सद्भाव है। सभी अक्षर 64 होते हैं, कहा है—

“तेत्तीस वंजणाइं सत्तावीसं हवंति सव्वसरा।

चत्तारि अजोगवहा एवं चउसट्ठि वण्णाओ।।”

—(षट्ठो खण्ड 5/13, पृ० 248)

अतः यह निश्चित ही कहा जा सकता है कि लोकभाषा के अनेक स्रोत थे, जो परिमार्जित और परिष्कृत होकर भारतीय संस्कृति के मूल निवासियों की भाषा बनी आर्यभाषा के नाम से विख्यात वैदिक युग की 'छान्दस्' और आर्य युग की 'शौरसेनी', का अपना वैशिष्ट्य है, जिनमें जनभाषा के समान्तर रूप भी हैं। तथा जिनमें परिनिष्ठित, उदीच्या, विभाषा, मध्यदेशीय विभाषा तथा पूर्वी विभाषा के अनेक रूप विद्यमान हैं। शौरसेनी आदि भाषाओं से ही विभाषाये एवं उपभाषाये विकसित हुई हैं।



27 स्वरवर्ण

— अ, आ, आ३; इ, ई, ई३; उ, ऊ, ऊ३; ऋ, ॠ, ॠ३; लृ, लृ, लृ३; ऐ, ए, ए३; औ, ओ, ओ३; ऐं, ऐ, ऐ३; औं, औ, औ३। (इनमें '३' का चिह्न) ह्रस्वत्व का, तथा '३' का चिह्न प्लुतत्व का सूचक है)

33 व्यंजनवर्ण

— क, ख, ग, घ, ङ। च, छ, ज, झ, ञ। ट, ठ, ड, ढ, ण। त, थ, द, ध, न्। प, फ, ब, भ, म्। य, र, ल, व्। श, ष, स, ह।

4 अयोगवाह वर्ण

— अं (ः), अः (:) ँ क्, ॡप्।

सुयोग्य बहू

—श्रीमती अमिता जैन

‘आय-व्ययमुखयोर्मुनि-कमण्डलुरेव निदर्शनम् ।’

—(आ० सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृत जैन अर्थशास्त्र, 18/6)

प्राचीनकाल में मगध प्रान्त की राजधानी ‘राजगृह’ थी। उसमें ‘धन्य’ नामक एक सार्थवाह (बड़ा व्यापारी) था। अपनी बुद्धि एवं व्यापार-कौशल के कारण वह ‘नगरसेठ’ बन सका था। उसे आये दिन व्यापार के निमित्त विदेश जाना पड़ता था। उसका परिवार भी पुत्र-पौत्रों से सम्पन्न था और सभी लोग एक साथ मिलकर रहते थे। व्यापार के कार्य में उसके चारों पुत्र तो सुयोग्य निकले तथा पिता का अच्छी तरह हाथ बँटाते थे, किन्तु घर की चिंता उसे सताती रहती थी। क्योंकि उसकी चारों पुत्रवधुयें अलग-अलग परिवारों से थीं। उनमें से कौन ‘गृहस्वामिनी’ का पद संभालने के लिए सुयोग्य है? —इसका निर्णय करके वह घर के दायित्व से भी चिन्ता-मुक्त होना चाहता था।

इस बात का निर्णय करने के लिये उसने एक दिन अपनी चारों पुत्रवधुओं को अपने पास बुलाया तथा समस्त परिजनों के सामने उन चारों को पाँच-पाँच चावल के दाने दिये और कहा कि “मेरी बेटियो ! तुम इन चावल के दानों को संभालकर रखना, जब मुझे जरूरत होगी, तो मैं तुम लोगों से माँग लूँगा।” चारों पुत्रवधुओं ने अपने ससुर जी की आज्ञा को सिर झुकाकर स्वीकार किया और उन चावलों को लेकर अपने-अपने कक्ष में चली गयीं।

उनमें से बड़ी पुत्रवधु, जिसका नाम ‘उज्जिका’ था, ने सोचा कि ‘इन पाँच दानों को कौन संभालकर रखे। अन्न-भंडार में मनो धान भरा हुआ है, जब ससुर जी माँगेंगे, तो उसमें से मैं पाँच दाने लेकर लौटा दूँगी।’ —यह सोचकर उसने उन दानों को खिड़की से बाहर फेंक दिया और निश्चिंत हो गयी।

मँझली पुत्रवधु का नाम ‘भोगवती’ था। उसने सोचा कि ‘ससुर जी ने घर में भरपूर धान के रहते हुए मात्र पाँच चावलों की रक्षा करने की बात क्यों कही? कहीं ये धान चमत्कारी तो नहीं है?’ —यह सोचकर उसने वे पाँच धान छीलकर खा लिये।

तीसरी सँझली पुत्रवधु का नाम ‘रक्षिका’ था, वह ‘यथानाम तथा गुण’ थी। उसने विचार किया कि ‘इतने लोगों के सामने बुलाकर धान्यकण देने में जरूर कोई रहस्य है, अतः

इनकी सावधानीपूर्वक रक्षा करनी चाहिये।' —यह विचारकर उसने वे पाँचों दाने सफेद मलमल के कपड़े में बाँधकर अपनी रत्नमंजूषा में रखकर तिजोरी में सुरक्षित रख दिये।

सबसे छोटी पुत्रवधु का नाम 'रोहिणी' था। वह बड़ी बुद्धिमती थी। उसने सोचा कि धान के दानों को यदि कितनी ही सुरक्षा में रखा जाये, समय के साथ ये धीरे-धीरे बेकार हो जायेंगे; जबकि यदि इन्हें खेती करके बढ़ाया जाये, तो इनकी न केवल संख्या बढ़ेगी, अपितु प्रतिवर्ष नयी फसल होने से ये खराब भी नहीं हो सकेंगे। यह विचारकर उसने अच्छी वर्षा होने पर खेत में छोटी-सी क्यारी बनवाकर बो दिया। पौधे तैयार होने पर उन्हें और अच्छी क्यारी में रोपवाकर उनकी देखभाल की। उनमें प्रत्येक पौधे में कई-कई स्वस्थ धान निकले। उसने वे सुरक्षित संभालकर रखे तथा अगले वर्ष वर्षाऋतु में उन्हें खेत में फिर से बो दिया। अब और भी अधिक कई गुने धान निकले। इसीप्रकार तीसरे और चौथे वर्ष भी बोने से उन पाँच धानों के कई घड़े भर धान बन गये।

चार वर्ष बाद नगरसेठ 'धन्य' ने सोचा कि 'पता तो कहीं बहुओं ने मेरे द्वारा दिये गये धान के दानों का क्या किया?' —ऐसा विचारकर उसने पुनः सभी परिजनों के सामने चारों बहुओं को बुलवाया। और एक-एक करके उन बहुओं से अपने द्वारा दिये गये धान के दानों के बारे में पूछा।

बड़ी बहू 'उज्जिका' बोली कि "पिताजी ! वे दाने तो मैंने फेंक दिये थे, क्योंकि घर के अन्न-भंडार में भरपूर धान भरा हुआ था। उसी में से लेकर धान के पाँच दाने मैं आपको लौटाने लायी हूँ।" उसकी बात सुनकर उस सेठ ने उसे घर की सफाई का काम सौंप दिया।

इसके बाद मंजली बहू 'भोगवती' का नंबर आया, तो उसने कहा कि "पिताजी ! मैंने तो वे दाने आपका प्रसाद समझकर तभी खा लिये थे।" उसका उत्तर सुनकर नगरसेठ ने उसे रसोईघर के कामों की जिम्मेवारी दे दी।

फिर सँजली बहू 'रक्षिका' ने अपनी बारी आने पर तत्काल अपनी रत्नमंजूषा से निकालकर वे पाँचों धान के दाने अत्यन्त विनयपूर्वक अपने ससुर की हथेली पर रख दिये। धान के दानों को सुरक्षित देखकर भी 'धन्य' सेठ के मन में अधिक खुशी नहीं हुई, और उसने तीसरी बहू को तिजोरी की चाबियाँ सौंपकर उसकी देखभाल के लिए लगा दिया।

अन्त में छोटी बहू 'रोहिणी' ने धान के भरे हुए घड़े लाकर अर्पित किये और पाँच दानों से घड़ों धान होने का वृत्तान्त सुनाया। जिसे सुनकर वह नगरसेठ 'धन्य' अत्यन्त हर्षित हुआ और उस छोटी बहू को उसने 'गृहस्वामिनी' का पद प्रदान किया।

किसी विवेकी ने इस सारे घटनाक्रम को देखा और कहा कि—

"कण-त्यागी क्षण-त्यागी, कुतो विद्या कुतो धनम्।"

अर्थात् चाहे अमाज या समय, उसकी उपेक्षा करने वाले या नष्ट करने वाले को न तो विद्या की प्राप्ति होती है और न ही धन मिलता है।

यह एक विश्वविख्यात शिक्षाप्रद कथा है, जो कि 'णायाधम्मकहा' नामक श्वेताम्बर जैन-ग्रंथ में, मूलसर्वास्तिवाद के 'विनयवस्तु' नामक बौद्धग्रंथ में तथा ईसाईधर्म के पवित्र ग्रंथ 'बाईबिल' में भी पायी जाती है।



आचाम्ल तप : कायरशुद्धि का अबूक साधन

“आयंबिलेण सिंभं स्वीयदि पित्तं च उवसमं जादि ।

वादस्स रक्खणट्ठं ऐत्थ पयत्तं खु कादव्व ।।”

—(आचार्य शिवार्य, भगवती आराधना, 454)

आचाम्ल तप (आयंबिल) से 'कफ' का क्षय होता है, 'पित्त' शान्त होता है और 'वात' से रक्षा होती है। (इसप्रकार शरीर के तीनों दोषों का नाशक होने से) आचाम्ल तप के सेवन का प्रयत्न करना चाहिये।

'आचाम्ल तप' को प्राकृत में 'आयंबिल' कहा जाता है, और इसी नाम से यह जैन समाज में प्रचलित है। इसमें मोटे चावल को पकाकर 'ऊनोदर' (भूख से कम भोजन) के रूप में नमक एवं छाँछ (मट्ठा) के साथ सेवन किया जाता है। अन्य कुछ भी नहीं खाते हैं। लगातार आठ दिन तक ऋतु-परिवर्तन के समय इसका पालन करने से समस्त शारीरिक विकारों को नष्ट करके रक्तशुद्धि, उदरशुद्धि-पूर्वक शरीर फूल की भाँति हल्का एवं मनोविकार (काम, क्रोध आदि) से शून्य बनाकर प्रसन्नचित्त हो जाता है। इसप्रकार यह धर्मसाधना में भी उपयोगी महत्त्वपूर्ण साधन है। इसीलिए इसे जैन-परंपरा में स्थान प्राप्त है।

गरिष्ठ बासमती चावल की जगह सादा परमल (मोटा) चावल स्वास्थ्यवर्धक माना जाता है। आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करती है। 'पंजाब केसरी' (हिन्दी दैनिक, दिल्ली संस्करण, 31.10.2000) के अनुसार चावल संसार के आधे भाग में मुख्य भोजन के तौर पर प्रयुक्त होता है। “चावल हल्का और जल्दी हजम हो जाने वाला आहार है, जिस पानी से यह पकाया जाता है, वह घोल (मांड) भी उपयोगी होता है।

तीन हजार वर्ष पहले हमारे देश की संस्कृत-पुस्तकों में जिक्र था कि मांड शिशुओं के अतिसार (दस्तारोग) में फायदा पहुँचाता है। पश्चिम के वैज्ञानिकों ने आज उसकी पुष्टि की है। एक लीटर पानी में दो मुट्ठी चावल, एक चम्मच नमक के साथ पकाकर जो पतला मांड तैयार किया जाता है, वह शिशुओं के 'अतिसार' रोग में काम आता है।

न्यूयार्क में एक अध्ययन से पता चला है कि चावल से रक्तचाप के साथ-साथ वजन भी कम किया जा सकता है। जापानी वैज्ञानिकों ने पाया है कि चावल अंतड़ी में अवांछित कैल्शियम को सोख लेता है और मूत्राशय में पथरी नहीं होने देता। एक सर्वेक्षण से पता चला है कि जो लोग ज्यादा चावल खाते हैं, उन्हें कोलेजन, ब्रैस्ट तथा प्रोस्टेट कैंसर नहीं होता। भूरा अथवा मोटा चावल पालिशदार बारीक चावल के मुकाबले अधिक लाभकारी होता है।”

प्राकृत-सट्टकों में प्रकृति-चित्रण

—डॉ० धर्मचन्द्र जैन

महाकवि राजशेखर (9वीं सदी) की कर्पूरमञ्जरी, नयचन्द्र (14वीं सदी) की रम्भामञ्जरी, रुद्रदास (17वीं सदी) की चन्द्रलेखा, मार्कण्डेय (17वीं सदी) की विलासवती, विश्वेश्वर (18वीं सदी) की शृंगारमञ्जरी और घनश्याम (18वीं सदी) कृत आनन्दसुन्दरी —ये छह प्राकृत-नाटिकायें उपलब्ध होती हैं, जिन्हें सट्टक के नाम से जाना जाता है।

सट्टक यह शब्द किससे विकसित हुआ, बहुत समय तक विद्वान् मनीषियों के लिये चर्चा का विषय बना रहा। भाषा में इसके लिए 'साटक, शाटक तथा साडिक' शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। सर्वप्रथम भरहुत स्तूप (200ई०पू०) में 'साडिक' पद 'नृत्य' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ मिलता है। सम्भवतः यह 'साडिक' ही कालान्तर में विकसित होकर 'सट्टक' के रूप में परिवर्तित हुआ हो।

काव्यशास्त्रकारों की दृष्टि में 'सट्टक' क्या है? —यह जान लेना अधिक उपयोगी है। 'नाटिका' से साम्य रखनेवाली, प्राकृतभाषा में निबद्ध, 'विष्कम्भक' और 'प्रवेशक' से रहित रचना को राजशेखर 'सट्टक' बतलाते हैं। अभिनवगुप्त (1050 के लगभग) 'सट्टक' में शृंगार रस को अत्यन्त उपयोगी मानते हैं। कविराज विश्वनाथ (14वीं शती का पूर्वार्द्ध) 'सट्टक' उसे मानते हैं, जिसकी सम्पूर्ण रचना प्राकृत में हो, 'प्रवेशक' तथा 'विष्कम्भक' जहाँ न हों, प्रचुर अद्भुतरस हो, जिसके अंकों का नाम 'जवनिका' हो तथा जिसमें अन्य विशेषतायें 'नाटिका' के सदृश होती हैं।

इसप्रकार उपर्युक्त विद्वान् आचार्यों के मन्तव्यों से स्पष्ट है कि 'सट्टक' वह है, जिसमें 'विष्कम्भक' तथा 'प्रवेशक' का अभाव होता है, प्राकृत का प्रकृष्ट प्रयोग होता है, अंक के लिए 'जवनिकान्तर' शब्द प्रयुक्त होता है तथा 'नाटिका' से सादृश्य रखने के कारण सट्टक की भी कथावस्तु कवि-कल्पित होती है, नायक प्रख्यातवंशी धीरललित होता है। इसमें अंगीरस के रूप में शृंगाररस का समावेश होता है, राजकुलोत्पन्न ज्येष्ठा नायिका (महादेवी) तथा कनिष्ठा नायिका (परिणायिका) की योजना होती है।

रम्भामञ्जरी को छोड़कर उपर्युक्त समस्त सट्टक काल्पनिक इतिवृत्त पर आधारित हैं। कैशिकीवृत्ति के अनुकूल विविध विद्यासम्पन्न शृंगाररस इनमें प्रधान है। कहीं-कहीं

प्राकृत नाटिकाओं में अद्भुतरस के सन्निवेश के साथ ही 'रौद्र' एवं 'शांतरस' की भी झलक मिलती है। प्रायः सभी सट्टकों का एक-सा उद्देश्य—प्रणयकथा वर्णित करना है। आज ही नहीं, पूर्व में भी स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति बराबर सजग रहती थीं। नाटक-कर्त्ताओं ने भी अपनी कृतियों विशेषकर सट्टकों में जहाँ अग्रमहिषी प्रगल्भा नायिका महादेवी को महाराज के प्रणय-प्रसंग में कठोर तथा बाधक वर्णित किया है; वहीं उन्होंने उसे अपने पति की हितचिन्तिका भी दिखलाया है। वही अग्रमहिषी महाराज के चक्रवर्तित्व की उपलब्धि-हेतु अपनी ममेरी, चचेरी अथवा मौसेरी बहन जो नवयौवना तथा अद्वितीय सुन्दरी है, के साथ उनका विवाह-सम्बन्ध कराने में पश्चात् अपनी सहर्ष स्वीकृति दे देती है।

पाठक विद्वज्जनों में 'कर्पूरमञ्जरी' सट्टक ही अधिक लोकप्रिय है। अग्रमहिषी द्वारा गौरी की प्रतिमा बनवाकर भैरवानन्द गुरु द्वारा उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करवाना, स्वयं दीक्षा लेना, भैरवानन्द से दक्षिणा लेने का आग्रह करना, दक्षिणास्वरूप महाराज को धनसारमंजरी-कर्पूरमंजरी को सौंपा जाना जहाँ इस सट्टक में विशेष है; वहीं 'शृंगारमञ्जरी' सट्टक में खासकर गान्धर्व-विवाह के माध्यम से महाराज राजशेखर को 'शृंगारमञ्जरी' को अंगीकार करना कवि विश्वेश्वर की नूतन कल्पना को उजागर करता है। दूसरी ओर अभिशाप के कारण राक्षसी का होना, अभिशाप की समाप्ति पर आश्रम जैसे पुनीत-स्थल पर मणिमालिनी द्वारा छोड़े जाने की घटना आदि भी 'शृंगारमञ्जरी' की मौलिकता को दर्शाता है। इसप्रकार इन सट्टकों में जहाँ वस्तु, नेता (लाने वाले) और रस का सफल चित्रण मिलता है; वहीं इन प्राकृत नाटिकाओं में प्रकृति-चित्रण भी बड़ा ही सजीव, आकर्षक एवं मनोहारी बन पड़ा है।

प्रकृति एवं मानव

प्रकृति मानव की चिरसंगिनी रही है। मानव का प्रकृति की गोद में ही लालन-पालन होता है। उसे जीवन की प्रत्येक सुविधा प्रकृति से ही उपलब्ध होती है। अतः प्रकृति के प्रति उसका प्रेम स्वाभाविक है। प्रकृति ने विश्व में ऐसे दिव्य-सौन्दर्य का सृजन किया है, जिसका आभास मानव को वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु-पक्षी आदि में दृष्टिगोचर होता है। इसीकारण वह कभी उषा की राग-रञ्जित सौन्दर्य से अनुरक्त होता हुआ दिखलायी देता है, तो कभी सन्ध्या की नील-पीत मिश्रित अरुणिमा में आत्मविभोर हो उठता है। कभी शरद के सुरभित हास में मग्न हो थिरक उठता है, तो कभी वसन्तश्री की सुषमा में वह अपनी सुध-बुध खो बैठता है। प्रकृति का यही अनूठा सौन्दर्य मानव को हठात् आकृष्ट करता रहा है। प्रकृति ही वह चिर नूतन तत्त्व है, जो मानव को साहित्यिक जगत् की नित्य नवीनता प्रदान करता है। यही कारण है कि भारतीय वाङ्मय में प्रकृति कवियों द्वारा सदैव समादृत रही है।

काव्य में प्रकृति का उपयोग अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है, जिसे यहाँ निम्नलिखित पाँच भागों में विभक्त कर अध्ययन किया जा सकता है। वे हैं— (1) आलम्बन के रूप में, (2) अलंकरण के रूप में, (3) उद्दीपन के रूप में, (4) मानवीकरण के रूप में और (5) नैतिक उपदेश-प्रकाशन के रूप में।

प्राकृत सट्टकों में प्रायः उक्त मान्य समस्त रूपों के आधार पर प्रकृति-निरूपण किया गया है; जैसे कि :—

1. प्रकृति का आलम्बन के रूप में चित्रण

प्रकृति का आलम्बन रूप वहाँ माना जाता है, जहाँ कवि प्रकृति के अनन्य सौन्दर्य में खो जाये। इसप्रकार के वर्णन में प्रकृति की प्रतिपाद्य होती है।

“चंचूलसंत कलमगिम मंजरीजं, णीडं भञ्जति णह संगममंडलाइं।

जाआविओज-विहुरा विसिणी-दलम्मि, कंदंति मंदकरुणं सरको-अ-लोआ।।”

2. प्रकृति का अलंकरण के रूप में चित्रण

कवि जब प्राकृतिक उपादानों का उपमा, रूपक आदि अलंकारों के रूप में उपयोग करता है, तब प्रकृति अलंकार के रूप में व्यवहृत मानी जाती है। प्राकृत-नाटिकाओं में कवि ने प्रकृति से उपमान लेकर अपने काव्य को बखूबी अलंकृत किया है। यहाँ कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं, जैसे कि आनन्दसुन्दरी में—

“हे राजन ! आपके मित्रगण चक्रवाक-मिथुन के सदृश प्रसन्न हो रहे हैं और शत्रुओं का समुदाय चकोर-समूह की भाँति खिन्न हो रहा है; आपको देखनेवाले दर्शकों के पाप के समान अन्धकार-पुंज दूर हो रहा है तथा सम्यक् उन्मीलित सूर्य की भाँति लोक में आपका प्रताप दुर्लक्ष्य हो रहा है”—

“फारं णंदह चक्कवाअ-मिहुणं बधुक्करो दे जहा,

जीवं जीव-गणो विसूरइ तहा तुञ्जारि-जूहं जह।

दट्टूणं तुह पाअअं विअ गअं दूरं तमिस्संकुरं,

दुप्पेक्खो भुवने भवं जह तहा सूरुो समुम्मीलइ।।”

यहाँ कवि ने राजा की प्रशंसा में विभिन्न उपमानों के लिए उपमालंकार का प्रयोग किया है।

‘मुख चन्द्रमा के समान, नेत्रयुगल केतकी-पुष्प के सदृश, लम्बी भुजायें लता की भाँति, दन्तपक्ति का सौन्दर्य कुन्दपुष्प के समान है—

“मुहं चंदाआरं णअणजुअलं केदअणिहं।

लदा-दीहा बाहा रअण-सुसमाकुंदसरिसी।।”

यहाँ कवि ने नायिका के विभिन्न अंगों के सौन्दर्य का वर्णन उपमानों के लिए उपमालंकार प्रयुक्त किया है।

कर्पूरमञ्जरी और चंदलेहा नाटिका के निम्न श्लोक भी पठनीय हैं :—

- (1) “लावणं णवजच्चकंचणणिहं पेत्ताण दीहत्तणं ।
कण्णेहिं खलिदं कवोलफलआ दोखंडचंदोवमा ॥
एसा पंचसरेण संजिदधणूदडेण रक्खिज्जए ।
जेणं सोसण-मोहणप्पहुदिणो बिज्झंति मं मग्गणा ॥”
- (2) “णेत्तं कंदोट्ठमित्तं अहरमणि-सिरि बंधुजीएँकबंधू ।
वाणी पीऊस-वेणी णवपुलिण-अल-त्थोर-बिंबो णिअंबो ।
गतं लाअण्ण-सोत्तं घण-सहिण-भरच्चंत-दुज्जंत-मज्जं ।
उत्तेहिं किं बहूहिं जिणइ मह चिरा जम्म-फुल्लं फलिल्लं ॥”

3. प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण

प्राकृति का सौन्दर्य अनेकरूपों में मानव को उद्दीप्त करता है, विशेषकर प्रेमियों के साहचर्य और वियोग में प्रकृति उन्हें विशिष्टरूप से उद्दीप्त करती है। आनन्दसुन्दरी सट्टक के द्वितीय जवनिकान्तर में जब वैतालिक मध्याह्न की उद्घोषणा के साथ नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं, तब नायिका के वियोग में पीड़ित राजा का सन्ताप मध्याह्न वेला की उद्घोषणा से और भी अधिक बढ़ जाता है और वह विदूषक से कह पड़ता है— “मित्र, इस विरहावस्था में नायिका के सौन्दर्य-वर्णन के साथ मध्याह्न की उद्घोषणा वृश्चिक-वेदना के समान असह्य है”—

“वअस्स बिंछुअ-वेदणा-दूसहं विरह-दहण-संदीवणज्जं खु बंदिजण-वण्णणं ।

यहाँ पर नायक और नायिका की विरहावस्था स्पष्ट दर्शित है और मध्याह्न की उद्घोषणा उद्दीपनभाव है ।

कर्पूरमञ्जरी के द्वितीय जवनिकान्तर के प्रारम्भ में ही आता है कि राजा कर्पूरमञ्जरी की याद में विह्वल है और उसके सौन्दर्य की बारम्बार प्रशंसा करता है । तभी विदूषक और विचक्षणा आ जाते हैं । राजा को विचक्षणा कर्पूरमञ्जरी द्वारा लिखित एक केतकी-पत्रलेख देती है । सट्टक ‘चंदलेहा’ में भी ऐसा ही मिलता है । वहाँ राजा मानवेद नायिका के अंग-सौन्दर्य का स्मरण कर विह्वल हो जाता है । विदूषक राजा को चन्द्रलेखा का हस्तलिखित पत्र देता है ।

इसप्रकार प्राकृत-सट्टकों में प्रकृति का विविध सौन्दर्य मानव-मन को प्रतिपल उद्दीप्त करता हुआ तत्पर दृष्टिगोचर होता है । जहाँ नायक एक और नवोद्धा नायिका से मिलन के लिए आतुर दिखलायी देता है, वहीं नायिका भी नायक से मिलने के लिए उतनी ही उतावली दृष्टिगोचर होती है । वसन्तागमन के अवसर पर विरहिणी की दशा का चित्रण इसका स्पष्ट प्रमाण है । रम्भामञ्जरी सट्टक में निम्न विरह-चित्रण देखिये—

वसन्त के आगमन पर जिसका पति विदेश गया हुआ है, वह विरहिणी कैसे जीवित

रह सकेगी? उसे मृगांक-चन्द्र सर्पाक के समान प्रतीत होता है, शीतल मलयानिल देह को सन्तप्त करता है। कोकिल की कूक रौद्र मालूम होती है, कामदेव के बाण जीवन को अपहरण करने वाले जान पड़ते हैं। बेचारी विरहिणी को रात्रि में एक क्षण भी नींद नहीं आती—

“मयंको सप्यंको मलयपवणा देहतवणा, कुहू-सद्दो रुद्दो सुमससरा जीविदहरा।

वराइयं राई उवजणइ णिद्दम्मि ण खणं, कहं हा जीविस्से इह विरहिया दूर पहिया।।”

आनन्दसुन्दरी सट्टक के तृतीय जवनिकान्तर में विवाहोत्सव के उपरान्त राजा शृंगारवन में प्रविष्ट होता है और नानाविध वृक्षों को खिला हुआ देखता है, तब वह उद्दीप्त होकर नायिका को भी विविध प्रकार के पुष्पों के समान आह्लादकारी बतलाते हुए धूर्त व्यक्ति की भाँति सतत आलिंगन की इच्छा प्रकट करता है—

“पेअसि ! ददंतो सोरब्भं विविघ-कुसुमाणं सुहअरं।

करंतो वीसद्धं कुरल-सिअआणं तरलणं।।

किरंतो सीदाइं सलिलकण-जालाइ सुअहो।

जगप्पाणो धुत्तो विअ सददमालिंगइ तुमं।।”

यहाँ पर नायक और नायिका की संयोगावस्था है और वृक्ष आदि उद्दीपन हैं।

4. मानवीकरण के रूप में प्रकृति का चित्रण

प्रकृति का मानवीकरण रूप वहाँ दृष्टिगोचर होता है, जहाँ कवि मानव-व्यवहार को प्रकृति पर आरोपित करता है। अभिप्राय यह है कि मानव के क्रियाकलाप का जब कवि उसी रूप में वर्णन प्रकृति के लिए भी करता है, तब वह प्रकृति का मानवीकरण के रूप में चित्रण कहलाता है।

आनन्दसुन्दरी सट्टक के तृतीय जवनिकान्तर में मन्दारक का यह कथन — “एसो एला-लदालिगिंदो लवंगदरू” अर्थात् ‘यह एलालता से आलिंगित लवंगतरु है। — मानवीकरण के रूप में प्रकृति के चित्रण की झलक प्रस्तुत करता है; कारण कि आलिंगन इत्यादि क्रियाकलाप तो मानव जगत् में ही दृष्टिगत होते हैं, न कि प्रकृति में; किन्तु यहाँ कवि ने इलायची-लता को लवंगवृक्ष से आलिंगित बतलाया है, जो मानवीकरण के रूप में प्रकृति के चित्रण को दर्शाता है। अन्य सट्टकों में भी ऐसे प्रसंगों को खोजा जा सकता है।

5. नैतिक उपदेश-प्रकाशनायक प्रकृति का चित्रण

उपदेश-प्रकाशन को दृष्टि में रखकर जब कवि प्रकृति का चित्रण करता है, तब वह नैतिक उपदेश-प्रकाशन के रूप में प्रकृति का चित्रण कहलाता है। जैसेकि आनन्दसुन्दरी सट्टक में—

नवीन अधिकारी से उत्पन्न हुआ भय पूर्वाधिकारी को अधिक व्याकुल करता है।

इसका उपदेश कवि ने चन्द्रोदय ब्याज से इसप्रकार प्रस्तुत किया है—

“चन्द्र के भय से किञ्चित् प्रभा से युक्त यह सूर्य अपनी दीन किरणों के साथ कथमपि पश्चिम दिशा की ओर वैसे ही जा रहा है, जैसे नवीन अधिकारी के भय से निरन्तर व्याकुल पूर्वाधिकारी अपने बन्धुओं के साथ किसी ग्राम के लिए प्रस्थान कर देता है”—

“एसो चंद-भरण वासर-मणी किञ्चिष्वा-चुंबिओ ।

दीणेहिं किरणेहि केहि वि समं जादो दिसं वारुणिं ।।

गामं किंवि णवाहिआरि-जणिद-तासाणिस-व्वाउलो ।

बंधूहिं चइदेहि जाद-साहिदो पुन्वाहिआरी जह ।।”

इसीप्रकार मित्रहीन होने पर कौन किसे सन्तुष्ट करता है? तथा भाग्य के विपरीत होने वाले की लोक में कौन गणना करता है? कोई नहीं। इसी तथ्य को कवि ने सूर्यास्त चित्रण के माध्यम से निम्न प्रकार उद्घाटित किया है—

सूर्य के चले जाने पर कमलिनी म्लान-मुख हो जाती है तथा भ्रमरपंक्ति कमल का परित्याग कर देती है। इसका तात्पर्य यह है कि भ्रमरावली सूर्य के अस्त होने के बाद कमल पर गूंजना छोड़ देती है, इसीप्रकार मित्रहीन होने पर उसे कौन सन्तुष्ट कर सकता है और जिसका भाग्य ही विपरीत हो, तो लोक में उसकी कौन गणना करता है?

“गए दिणेसे णलिणी मिलाणा, को णाम संदुस्सइ मित्तीणी ।

पंकेरुहं टक्कइ भिंगुपाली, गच्छंत मगं भुवि को गणेइ ।।”

आनन्दसुन्दरी से व्यतिरिक्त अन्य प्राकृत नाटिकाओं में भी कतिपय पद्य हैं, जिनमें नैतिक उपदेशों का प्रकाशन किया गया है। इनमें कवियों द्वारा प्रयुक्त सूक्तियों एवं सहज समागत मुहावरों में भी नैतिक उपदेश भरे पड़े हैं।

इस तरह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विविध रूपों में वर्णित प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से ‘प्राकृत सट्टक’ पूर्णतः सफल हैं।

सन्दर्भग्रंथ-सूची

1. “साडिक संमदं तुरं देवानं ।” —भरहुत, पृ० 75, (डॉ० रमानाय मिश्र, भोपाल 1971)
2. द्र० चंदलेहा, भूमिका, पृ० 29 (डॉ० ए०एन० उपाध्ये, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1945, प्रथम संस्करण)
3. वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यमपात्रप्रयोजितः ।। —(दशरूपक 1/56)
4. तद्देवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
प्रवेशो तद्देवात्र शेषार्थस्थोपसूचकः ।। —(वही, 1/60)
5. सो सट्टओ ति भण्णइ दूरं जो णाडिआइं अणुहरइ ।
किं उण एत्थ पवेसअ-विककंभाइं ण केवलं होति ।। —(कर्ममञ्जरी, 1/6)
6. द्र० संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 104 (डॉ० एस०के०डे० अनु० मायाराम

शर्मा, पटना, 1973, प्रथम संस्करण)। तथा भोजकृत शृंगारप्रकाश, पृ० 524 पर उद्धृत :
तथाहि —शृंगाररसे सातिशयोपयोगिनी प्राकृतभाषेति सट्टकः ।

कर्पूरमंजर्याख्यः राजशेखरेण तन्मात्र एव निबद्धः ।।

7. सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम् । न च विष्कम्भोऽत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः ।।
अंका जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिका समम् ।। —(साहित्य दर्पण, 6/206)
8. द्र० आनन्दसुन्दरी, पृ० 58 (सं० — डॉ० ए०एन० उपाध्ये, बनारस, 1955, प्रथम संस्करण)
तथा— वस्तुप्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः । प्रख्यातो धीरललितः शृंगारोऽंगीसलक्षणः ।।
स्त्रीप्रायचतुरंगदिभेदकं यदि चेष्यते । एकद्वित्रयंगपात्रादिभेदेनानन्तरूपता ।।
देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा । गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रात्तद्विशान्तेतृसंगमः ।।
नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा । अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः ।।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् । नेता तत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शक्तिः ।।
कैशिक्यगैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरेव नाटिका ।। —(दशरूपक, 3/43-48)
9. निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः । —(दशरूपक, 2/3)
10. यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्के ।
विलीयमानेवानन्दाद्गतारम्भेऽप्यचेतना ।। —(वही, 2/8)
11. मुग्धा नववयः कामा रते वामा मृदुः क्रुधि । —(वही, 2/6)
12. सट्टकं प्रचुरश्चाद्भुतो रसः । —साहित्यदर्पण 6/276, 'आनन्दसुन्दरी 2/3 तथा वही
1/25 देखिए रौद्र एवं शान्तरस के उदाहरण)
13. आनन्दसुन्दरी, 1/18 ।
14. वही, 2/15 ।
15. कर्पूरमञ्जरी, 4/4 ।
16. आनन्दसुन्दरी, 3/18 ।
17. वही, 1/10 ।
18. वही, 1/24 ।
19. कर्पूरमञ्जरी, 1/32 ।
20. चंदलेहा, 2/3 ।
21. आनन्दसुन्दरी, पृ० 30 ।
22. कर्पूरमञ्जरी 2/7 : केदईकुसुमपत्तसंपुडं पाहुदं तुअ सहीअ पेसिदं ।
एणणाहिमसिबण्णसोहिणा तं सिलोअजुअलेण लच्छिदं ।।
23. द्र० प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 419 ।
24. रम्भामञ्जरी, 1/40 ।
25. आनन्दसुन्दरी, 3/16 ।
26. वही, पृ० 40 ।
27. वही, 3/17 ।
28. वही, 3/19 ।



‘पवयणसार’ के मंगलाचरण का समीक्षात्मक मूल्यांकन

—श्रीमती रंजना जैन

कुन्दकुन्द आदि महान् आचार्यों के ग्रंथ आधुनिक शैली के विचारकों की विचार-सरणि में उनके गाम्भीर्यपूर्ण अर्थबोध का उद्घाटन करने के लिए वर्ण्य-विषय बन रहे हैं — यह अत्यन्त सुखद सन्तोष का विषय है। मात्र प्रशंसा के लिए किसी की प्रशंसा के गीत गाना या फिर प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों को मात्र आलोचना का विषय बनाकर अपना पांडित्य प्रदर्शन करना — ये दोनों ही प्रकार वैदुष्य की प्रतिष्ठित परम्परा से बाहर हैं। तथ्यों पर आधारित गवेषणापूर्वक चिंतन एवं संतुलित लेखन ही हमारे महनीय आचार्यों के प्रतिपाद्य को युग की माँग के अनुरूप प्रस्तुत कर सकेगा। संभवतः यह प्रयास इस दिशा में प्रथम तो नहीं कहा जा सकता है, किंतु स्वागतयोग्य अवश्य है। ‘प्रवचनसार’ ग्रंथ जैनदर्शनशास्त्र का सर्वोपरि प्रतिनिधि-ग्रंथ है। इसके मंगलाचरण पर आधारित यह लघु आलेख परंपरित एवं आधुनिक — दोनों वर्गों के विचारकों को आकर्षण का पात्र होगा — ऐसा विश्वास है।

—सम्पादक

शौरसेनी प्राकृतभाषा में रचित दिगम्बर जैन-परम्परा के आगम-साहित्य में आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत ‘पवयणसार’ ग्रंथ का अद्वितीय स्थान है। इसके नामकरण के अनुसार इसे दो परिभाषाओं से परिभाषित किया जाता है। प्रथम परिभाषा में इसे ‘प्रवचन’ अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् की दिव्यध्वनि’ का सारांश माना जाता है। और दूसरी परिभाषा के अनुसार ‘प्रवचन’ अर्थात् ‘द्वादशांगी जिनवाणी’ का ‘सार’ अर्थात् ‘निचोड़’ भी इसे बताया जाता है। इसके वर्तमान स्वरूप का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त दोनों परिभाषायें घटनात्मक तथ्य की दृष्टि से भले ही प्रमाणाभाव में असदिग्ध न कही जा सकें; फिर भी इसके उपलब्ध स्वरूप के परिपेक्ष्य में इसे इनके समकक्ष अवश्य रखा जा सकता है। इसके इस व्यापकरूप की संक्षिप्त अलक इस ग्रंथ के मंगलाचरण में भी दृष्टिगत होती है; जिसका संक्षिप्त समीक्षण यहाँ प्रस्तुत है।

मंगलाचरण का वैशिष्ट्य

“श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।

इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः।।”

अरिहंत परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है। इसलिये (प्रायः सभी) प्रधान-मुनियों ने शास्त्र के प्रारंभ में अरिहंत परमेष्ठी के गुणों की स्तुति की है।

व्युत्पत्तिजन्य अर्थ

मंगल से तात्पर्य है— “मंगं सुखं लाति इति मंगलं” अर्थात् जो ‘मंग’ अर्थात् ‘सुख’ की प्राप्ति कराये, वह ‘मंगल’ है। एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार “मम् गालयति इति मंगलं।” अर्थात् जो ‘मम्’ अर्थात् पापों को गलाता है, वह मंगल है।

मंगलाचरण के उद्देश्य

“नास्तिकत्व-परिहारः शिष्टाचार-प्रपालनम्।

पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नः शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः।।”

अर्थः— नास्तिकता का परित्याग, सभ्यपुरुषों के आचरण का पालन, पुण्य की प्राप्ति और विघ्न का विनाश—इन चार लाभों के लिये किसी कार्य के आरंभ में इष्ट-देवता की स्तुति की जाती है।

इन चार के अतिरिक्त ग्रंथ का ‘उद्देश-कथन’ भी मंगलाचरण में किये जाने से इसे भी इसका अंग मान लिया जाता है।

मंगलाचरण के उद्देश्य एवं ‘पवयणसार’

आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द-प्रणीत ‘पवयणसार’ ग्रंथ में किये गये मंगलाचरण में इन सभी उद्देश्यों का परिपालन किया गया है।

1. सर्वप्रथम आचार्य ने इष्टदेवता के रूप में शासननायक चरम तीर्थंकर भगवान् वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार किया है।
2. जो अच्छे गुणों एवं गुणी व्यक्तियों में विश्वास रखता है, जो आत्मतत्त्व में आस्था रखता है, उसे ‘आस्तिक’ कहते हैं। और इसके विपरीत आचरणवाले व्यक्ति को ‘नास्तिक’ कहा जाता है। चूँकि आचार्य कुन्दकुन्द ने वर्द्धमान स्वामी एवं पंचाचार आदि गुणों से युक्त परमेष्ठियों में आस्था एवं साम्यभाव की प्राप्ति रखी है; अतः नास्तिकता का परिहार हो जाता है।
3. शिष्टाचार से अभिप्राय है— “नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति” अर्थात् किये गये उपकार को सज्जन लोग कभी नहीं भूलते। वे उस उपकारी व्यक्ति के पीछे सदैव कृतज्ञता का भाव रखते हैं। चूँकि जैन-परम्परा में धर्मतीर्थ का प्रवर्तक शासननायक तीर्थंकर को ही माना जाता है। अतः शासननायक भगवान् महावीर एवं उनके धर्मतीर्थ का उल्लेख करके आचार्य ने यह संकेत दिया है कि इनके धर्मतीर्थ के प्रवर्तन के कारण ही श्रमण-परम्परा एवं कुन्दकुन्द को धर्मतत्त्व का बोध हुआ है। यद्यपि वर्तमान कालखण्ड में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ही जैनधर्म के मूल प्रवर्तक हुए हैं तथा उनके बाद भगवान् महावीर के पहिले 22 तीर्थंकर और हुये हैं। किंतु वर्तमान में

अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का ही शासन प्रवर्तमान है —यह अभिप्राय यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

4. इस ग्रंथ की प्राप्ति हमें परिपूर्ण ग्रंथ के रूप में होती है, अतः इसकी रचना निर्विघ्न हुई है —ऐसा कहा जा सकता है। ग्रंथ-रचना से पुण्य की प्राप्ति होना तो स्वाभाविक ही है।
5. इस ग्रंथ के मंगलाचरण में कुन्दकुन्द ने अपना वैयक्तिक उद्देश्य भी बताया है कि “मैं साम्यभाव के द्वारा निर्वाण प्राप्त करूँ।”

मंगलाचरण गाथाओं का विश्लेषण

1. आदर्श-परम्परा का पालन — इस ग्रंथ की प्रारंभिक पांच गाथाओं में कुन्दकुन्द ने पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया है। दिगम्बर-परम्परा के मूलग्रंथ ‘छक्खंडागमसुत्त’ में भी पंचपरमेष्ठियों को ही नमस्कार किया गया है। उसी परम्परा का पालन कुन्दकुन्द ने भी किया है।

2. शासननायकत्व — इस समय शासननायक भगवान् महावीर हैं, क्योंकि जैन-परम्परा में जब तक अगला तीर्थंकर नहीं हो जाता, तब तक विगत तीर्थंकर को ही शासननायक माना जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अरिहंत परमेष्ठी के रूप में शासननायक तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर स्वामी को नामोल्लेखपूर्वक नमस्कार किया है—

“पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।”

3. त्रिलोकपूज्यता — आचार्य ने वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करते हुये उनकी त्रिलोकपूज्यता भी ज्ञापित की है। ‘सुरासुरमणुसिंद-वंदिदं’ अर्थात् जो सुरेन्द्रों-असुरेन्द्रों एवं नरेन्द्रों के द्वारा वंदित हैं, —ऐसे भगवान् महावीर को मैं प्रणाम करता हूँ।

4. धोद-घादिकम्ममलं — अर्थात् जिन्होंने कर्मरूपी मल को धो डाला है’, —यह कहकर आचार्य ने भगवान् महावीर को वीतरागी सर्वज्ञ एवं अनंत चतुष्टय से युक्त बताया है। तथा शेष सभी तीर्थंकरों को भी नमस्कार किया है।

पंचपरमेष्ठी को नमन

चौथी गाथा में आगत ‘अरिहंताणं’ शब्द से ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द ने समस्त अरिहंतों के प्रतिनिधि के रूप में शासननायक वर्द्धमान तीर्थंकर को नमस्कार किया है।

‘विसुद्धसव्भावे ससव्वसिद्धे’ —यह कहकर आचार्य ने विशुद्ध-स्वभाववाले सभी सिद्धों को नमस्कार किया है।

‘समणे’ — इस पद के द्वारा पंचाचार-युक्त सभी श्रमणों को नमस्कार किया गया है। ‘श्रमण’ शब्द से अभिप्राय आचार्य, उपाध्याय और साधु —इन तीनों परमेष्ठियों से है। क्योंकि दीक्षा के रूप में तीनों ‘साधु परमेष्ठी’ ही कहलाते हैं। सामान्यतः आचार्य परमेष्ठी को ‘पंचाचार-परायण’ कहा जाता है; लेकिन कुन्दकुन्द ने तीनों परमेष्ठियों को

पंचाचार-युक्त कहा है। और तीनों को युगपत् प्रणाम किया है। तथा इसके पश्चात् तीनों को अलग-अलग भी नमस्कार किया है।

प्रस्तुत मंगलाचरण में आगत अन्य विशिष्ट तथ्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करने के उपरांत सभी को पृथक्-पृथक् भी नमस्कार किया है। वे आगे लिखते हैं कि मनुष्य-क्षेत्र में विद्यमान अरिहंतों को नमस्कार हो, इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने विदेह-क्षेत्र में विद्यमान बीस तीर्थकरों को भी नमस्कार किया है।

एक विशेष बात यह भी है कि उन्होंने आचार्य परमेष्ठी के स्थान पर 'गणधर' शब्द का प्रयोग किया है। चूंकि जैन-परम्परा में 'गणधर' शब्द 'तीर्थकर के प्रधान शिष्य' के रूप में अर्थ रूढ़ है; अतः यहां यह भ्रम संभव है कि आचार्य ने अन्य आचार्यों को प्रणाम न करके मात्र गणधर को ही प्रणाम किया है, लेकिन ऐसा नहीं है। यहाँ प्रयुक्त 'गणधर' शब्द आचार्य का ही वाचक है, क्योंकि 'गण' का अर्थ 'समूह' या 'संघ' है और उस समूह को धारण करनेवाला संघपति 'आचार्य' ही होता है। अतः 'गणधर' पद के द्वारा समस्त आचार्यों को ही नमस्कार किया गया है।

एक विशेष बात और देखने को मिलती है कि सामान्यतः मंगलाचरण के अंत में ग्रंथकार ग्रंथ या उसके विषय के बारे में उल्लेख करता है, किंतु यहां कुन्दकुन्द ने अपने भविष्य की कार्य-योजना का संकेत कर एकदम नई परम्परा का सूत्रपात किया है। अंत में वे कहते हैं कि "विशुद्ध ज्ञानदर्शन ज्ञान-प्रधान आश्रम को प्राप्त करके मैं साम्यभाव को प्राप्त करूँ, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है"—

“तेसिं विसुद्ध-दंसण-णाण-पहाणासमं समारसेज्ज ।

उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाण-संपत्ती ।।”

लेकिन सूक्ष्मता से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यहां भी आचार्य ने ग्रंथ के वर्ण्य-विषय का ही संकेत दिया है, न कि वैयक्तिक योजना का। और इससे मंगलाचरण के पांचवे उद्देश्य — 'उद्देश-कथन' की भी पूर्ति होती है। क्योंकि निर्वाण की प्राप्ति के लिये यही मार्ग उत्तम है, और इसी का प्रतिपादन इस ग्रंथ में किया गया है। ❖❖

कषाय व नोकषाय अशुभमन हे

“रागो दोसो मोहो, हास्सादी णोकसाय-परिणामो ।

थूलो वा सुहुमो वा, असुहमणो त्ति य जिणा वित्ति ।।”

—(आचार्य कुन्दकुन्द, बारसअणुवेक्खा, 52)

अर्थ:— राग, द्वेष, मोह एवं हास्यादि नोकषाय के स्थूल अथवा सूक्ष्म परिणामों वाला जीव 'अशुभमनवाला' है —ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का कथन है। ❖❖

‘प्राचीन भारत’ पुस्तक में कुछ और भ्रामक कथन

—राजमल जैन

‘राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्’ (NCERT) के द्वारा ग्यारहवीं कक्षा के लिए इतिहास-पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तक ‘प्राचीन भारत’ में जैनधर्म, संस्कृति एवं परम्परा के विषय में अनेकों तथ्यविरुद्ध निराधार पूर्वाग्रही निरूपण मिलते हैं। अनेकत्र तो भाषिक शिष्टता की मर्यादा का भी खुला उल्लंघन लेखक ने किया है। गवेषी विद्वान् श्री राजमल जैन ने इस विषय में आधार-सहित पहिले भी बहुत कुछ लिखा है और यह लेख उन्होंने ‘अवशिष्ट भ्रमों का साधार निराकरण’ की दृष्टि से ‘प्राकृतविद्या’ में प्रकाशनार्थ भेजा है। आशा है इस विषय में यहाँ प्रस्तुत आलेख के तथ्य जिज्ञासु एवं विवेकशील पाठकों के लिए उपयोगी जानकारी देकर इस दिशा में सक्रियता प्रदान कर सकेंगे।

—सम्पादक

उपर्युक्त पुस्तक की सामग्री का अध्ययन करने से यह तथ्य सामने आया है कि लेखक ने अनेक भ्रामक बातें प्राचीन इतिहास में जैन-योगदान के संबंध में लिखी हैं जो कि किशोर विद्यार्थियों को भ्रम में डाल सकती हैं। ऐसी कुछ बातों के संबंध में NCERT तथा विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाता है।

1. वैदिक भरत के नाम पर भारतवर्ष नहीं

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, अध्यक्ष, भारत विद्या विभाग, बनारस विश्वविद्यालय ने भरत से भारत की तीन व्युत्पत्तियाँ बताई थीं। एक तो अग्नि (भरत) से, दूसरी दुष्यन्त के पुत्र भरत से और तीसरी मनु (भरत) से।

विचाराधीन पुस्तक के दूसरे ही पृष्ठ पर श्री शर्मा ने लिखा है—“भारत के लोग एकता के लिए प्रयत्नशील रहे। उन्होंने इस विशाल उपमहाद्वीप को एक अखंड देश समझा। सारे देश को भरत नामक एक प्राचीन वंश के नाम पर भारतवर्ष (अर्थात् भरतों का देश) नाम दिया और इस देश के निवासियों को भारतसन्तति कहा।”

उपर्युक्त लेखक ने अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वेदों में भरत नाम आया है और उसीके नाम पर यह देश भारत कहलाता है। यह नाम किसे दिया गया, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। वेदों में अग्नि को भरत कहा गया है, क्योंकि वह अन्न आदि पकाने में सहायक होने के कारण सबका भरण-पोषण करती है। इस प्रकार अग्नि

के चम्र भरत को यह श्रेय दिया जाता है कि इस कल्पित भरत के नाम पर यह देश भारत कहलाता है ।

अग्नि के संबंध में श्री अग्रवाल ने लिखा था, “ऋग्वेद में ही अग्नि को भरत कहा गया है, ...अग्नि भरत है; क्योंकि वह प्रजाओं को भरती है। देश में जहाँ-जहाँ अग्नि फैलती है, प्रजायें उसकी अनुगामी होकर उस प्रदेश में भर जाती हैं... इस प्रकार समग्र भूमि भरत अग्नि का व्यापक क्षेत्र बन गई और यही भरतक्षेत्र भारत कहलाया।” इस व्याख्या को पुराणों ने स्वीकार नहीं किया और ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर भारत स्वीकार किया।

दूसरी व्युत्पत्ति मनु भरत के संबंध में उन्होंने लिखा था कि प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार “सब प्रजाओं का भरण करने और उन्हें जन्म देने के कारण मनु को भरत कहा गया। नाम की उस निरुक्ति के अनुसार यह वर्ष भारत कहलाया...ऋग्वेद काल में भरत आर्यों की एक प्रतापी शाखा या जन की संज्ञा थी।” यदि श्री शर्मा का संकेत इस व्युत्पत्ति की ओर है, तो वह भी पुराणों में स्वीकृत नहीं हुई।

वैदिक आर्यों ने तो अपने देश को सप्तसिंधु (सात नदियों का देश) कहा है। उसकी सीमा में काबुल, सिंध, पंजाब और कश्मीर आते थे। इस छोटे-से प्रदेश के निवासियों ने अपने प्रदेश का भी नाम बदलकर शेष अज्ञात पूरे भारत को भारतवर्ष नाम दे दिया होगा— यह विश्वसनीय नहीं जान पड़ता। समर्थन में पं० कैलाशचंद्र की पुस्तक से एक उद्धरण प्रस्तुत है— “ऋग्वेद में सप्तसिंधु देश की ही महिमा गाई गई है। यह देश सिंधु नदी से लेकर सरस्वती नदी तक था। (सरस्वती नदी का नाम तो ऋग्वेद में केवल एक बार ही आया है।) इन दोनों नदियों के बीच में पूरा पंजाब और कश्मीर आता है तथा कुम्भा नदी, जिसे आज काबुल कहते हैं, की भी वेद में चर्चा है। अतः अफगानिस्तान का वह भाग जिसमें काबुल नदी बहती है, आर्यों के देश में गर्भित था। यह सप्तसिंधु देश ही आर्यों का आदि-देश था [आर्यों का आदि देश, पृ० 33 संपूर्णानंद], किंतु प्राच्य भाषाविद् डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी का कहना है कि प्राचीन रूढ़िवादी हिंदू मत कि ‘आर्य भारत में ही स्वयंभूत हुए थे’, विचारणीय ही नहीं है। [भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृष्ठ 20]”

तीसरी व्युत्पत्ति दुष्यन्त-संबंधी है। दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष नहीं कहलाया; क्योंकि उसका तो वंश ही नहीं चला। उसके तीन पुत्रों को उसकी रानियों ने मार डाला था। इसलिए कि वे उसके अनुरूप नहीं थे (द्रो भागवत पुराण) और ऋषियों ने दुष्यन्त के वंश का अंत होने की स्थिति आ जाने पर उसे एक लड़का लाकर दिया था, जो भरद्वाज कहलाया। कालिदास ने भी अभिज्ञानशाकुंतल में दुष्यन्त के पुत्र के नाम पर भारत नहीं लिखा।

श्री अग्रवाल ने ‘भारत की मौलिक एकता’ (पृ० 21-26-27) में अग्नि और अन्य व्युत्पत्ति-संबंधी भूल कर बैठे थे; किंतु बाद में अपनी भूल को उन्होंने सुधार लिया।

अंततोगत्वा सम्यक् विचार के बाद श्री अग्रवाल ने यह मत व्यक्त किया.. “ऋषभनाथ के चरित का उल्लेख ‘श्रीमद्भागवत’ में भी विस्तार से आता है और यह सोचने पर बाध्य होना पड़ता है कि इसका कारण क्या रहा होगा? ‘भागवत’ में ही इस बात का भी उल्लेख है कि “महायोगी भरत ऋषभ के शत पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारतवर्ष कहलाया”— येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत् ।

येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ।।

—(भागवत 5/4/9)

(द्र० श्री अग्रवाल लिखित प्राक्कथन, जैन साहित्य का इतिहास - पूर्वपीठिका, लेखक पं० कैलाशचंद)

ऋषभ-पुत्र भरत के नाम पर भारत के लिए वैदिक पुराण यथा— 1. मार्कण्डेय, 2. कूर्म, 3. अग्नि, 4. वायु, 5. गरुड, 6. ब्रह्मांड, 7. वाराह, 8 लिंग, 9. विष्णु, 10 स्कंद आदि और भी पुराण देखे जा सकते हैं। इनमें से कोई भी पुराण वैदिक भरतवंश से भारतवर्ष नाम की व्युत्पत्ति नहीं बताता है।

‘पुराण-विमर्श’ नामक अपनी पुस्तक में पुराण-संबंधी समस्याओं का महत्त्वपूर्ण समाधान प्रस्तुत करनेवाले प्रसिद्ध विद्वान् स्व० बलदेव उपाध्याय का मत उद्धृत करना उचित होगा। उनका कथन है—

“भारतवर्ष इस देश का नाम क्यों पड़ा? —इस विषय में पुराणों के कथन प्रायः एक समान हैं। केवल मत्स्यपुराण ने इस नाम की निरुक्ति के विषय में एक नया राग अलापा है कि भरत से ही भारत बना है। परन्तु भरत कौन था ? इस विषय में मत्स्य (पुराण) ने मनुष्यों के आदिम जनक मनु को ही प्रजाओं के भरण और रक्षण के कारण भरत की संज्ञा दी है—

भरणात् प्रजानाञ्चैव मनुर्भरत उच्यते ।

निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद् भरतं स्मृतम् ।। —(मत्स्य, 114/5-6)

“प्रतीत होता है कि यह प्राचीन निरुक्ति के ऊपर किसी अवांतर युग की निरुक्ति का आरोप है। प्राचीन निरुक्ति के अनुसार स्वायंभुव के पुत्र थे प्रियव्रत, जिनके पुत्र थे नाभि। नाभि के पुत्र थे ऋषभ, जिनके एकशत पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र भरत ने पिता का राज्य प्राप्त किया और इन्हीं राजा भरत के नाम पर यह प्रदेश ‘अजनाभ’ से परिवर्तित होकर भारतवर्ष कहलाने लगा। जो लोग दुष्यन्त के नाम पर यह नामकरण मानते हैं, वे परंपरा के विरोधी होने से अप्रमाण हैं।” (पृष्ठ 333-334)। अंत में उन्होंने अपने कथन के समर्थन में वायुपुराण, भागवतपुराण के उद्धरण दिए हैं।

स्व० उपाध्यायजी प्रस्तुत लेखक के बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में संस्कृत गुरु थे। सरस, स्पष्ट शैली के धनी उपाध्यायजी 99 वर्ष की आयु में दिवंगत हुए। कुछ ही वर्षों पूर्व वे काशी के एक जैन विद्यालय में पधारे थे। सभा में उन्होंने इतना ही कहा कि “यह देश

ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष कहलाता है” और अपने निवास-स्थान लौट गए। प्रस्तुत लेखक इस लेख के माध्यम से उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

श्री आटे का विशालकाय संस्कृत-अंग्रेजी कोश भी भरत नाम की प्रविष्टि में यह उल्लेख नहीं करता है कि वेदकाल के भरत नाम पर यह देश भारत कहलाता है। यह कोश प्राचीन या पौराणिक संदर्भ भी देता है।

उपर्युक्त चौथी व्युत्पत्ति— “ऋषभ-पुत्र भरत के नाम पर भारत ही भारतीय परंपरा में सर्वाधिक मान्य हुई है।”

2. नग्न मूर्तियाँ नहीं, कयोत्सर्ग तीर्थक

ताम्र-पाषाण युग की चर्चा करते हुए श्री शर्मा ने लिखा है, “कई कच्ची मिट्टी की नग्न पुतलियाँ (!) भी पूजी जाती थीं।” (पृ०48) उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि इनके पूजनेवाले कौन थे? वे शायद यह जानते होंगे कि कुषाणकाल की जो जैन मूर्तियाँ मथुरा में मिली हैं, उनमें 6 ईच की एक मूर्ति भी है। जैन व्यापारी जब विदेश व्यापार के लिए निकलते थे, तब वे इस प्रकार की लघु मूर्तियाँ अपने साथ पूजन के लिए ले जाया करते थे। आगे चलकर ऐसी प्रतिमायें हीरे, स्फटिक आदि की बनने लगीं।-वे कुछ मंदिरों में आज भी उपलब्ध और सुरक्षित हैं। अतः उन्हें ‘पुतलियाँ’ और ‘पूजी जानेवाली’ दोनों एक साथ कहना अनुचित है।

3. पशुपतिनाथ की सील अहिंसासूचक है

सिंधु-सभ्यता की एक सील (पृ० 66) के संबंध में श्री शर्मा ने लिखा है कि उसे देखकर ‘पशुपति महादेव’ की छवि ध्यान में आ गई। यदि वे ध्यान से देखते, तो ऐसा नहीं लिखते। इस सील में तीर्थकर योग-अवस्था में ध्यानमग्न है। उनके एक ओर हाथी और बाघ हैं। दूसरी ओर गैंडा है। पाठक समझ सकते हैं कि ये परस्पर बैरी या विरोधी जीव हैं, किंतु अपने बैर को भूलकर वे शांत-भाव से बैठे हैं। योगी के आसन के नीचे दो हिरण बिना किसी भय के स्थित हैं। यह तीर्थकर की उपदेश सभा में जिसे ‘समवसरण’ कहते हैं, संभव होता है। कुछ जैन मंदिरों में शेर और गाय को एक ही पात्र से पानी पीते हुए अर्कित देखा जा सकता है। ऐसी एक घटना एक अंग्रेज शिकारी के साथ ‘चटगांव’ में हुई थी। जब उसके हाथी ने शेर के आने पर उसे नीचे पटक दिया, तब शिकारी भागकर एक मुनि के पास जा बैठा। शेर आया, किंतु अपने शिकार के लिए आए शत्रु को बिना हानि पहुँचाए लौट गया।

वैसे पशुपति में ‘पशु’ शब्द का अर्थ ही गलत लगाया जाता है। इसका अर्थ देह या आत्मा है। जिसने इन्हें अपने वश में कर लिया, वही ‘पशुपतिनाथ’ कहा जा सकता है। संस्कृत शब्दों का अर्थ प्रसंगानुसार करना ही उचित होता है।

इस प्रकार का एक और उदाहरण पशु-संबंधी यहाँ दिया जाता है। ‘ऋषभो वा पशुनामाधिपतिः (ता०वा० 14.2.5) तथा “ऋषभो वा पशुनां प्रजापतिः (शत० ब्रा० 5, 1.2-

5-17) संख्यात्मक संदर्भ प्रस्तुत लेखक ने कैलाशचंदजी की पुस्तक (पृ० 109) से लिए हैं। यदि यहाँ 'पशु' का अर्थ animal से लिया जाए, और 'ऋषभ' से बैल (जैसा कि श्री शर्मा कहते हैं, तो क्रमशः अर्थ होगा 'बैल पशुओं का राजा है' (शेर का क्या होगा ?) और 'बैल पशुओं का प्रजापति है' यह बात गोता खा जाने की बन गई। यदि पशु का अर्थ मनुष्य या देहधारी किया जाए और ऋषभ से ऋषभदेव किया जाए, तो मतलब निकलेगा ऋषभदेव मानवों के राजा थे। यह जैन मान्यता है। दूसरे का आशय भी इसी प्रकार ऋषभदेव देहधारियों के प्रजापति थे, यह होगा। जैन मान्यता है कि जब कल्पवृक्षों से मानवों की आवश्यकतायें पूरी होना कठिन हो गया, तब उस समय के मनुष्य ऋषभदेव के पास जीविका के उपाय पूछने गए तथा उनसे अपना अधिपति या राजा बनने की प्रार्थना की जो ऋषभदेव ने स्वीकार कर ली और उन्हें अंसि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प कार्यों से जीविका करने का उपदेश दिया। लोगों ने उनसे अपना शासक बनने की प्रार्थना की थी, इसलिए वे 'प्रजापति' कहलाए। यहां यही संकेत जान पड़ता है और अर्थ भी ठीक बैठ जाता है।

यदि श्री शर्मा 'भागवत' के पंचम स्कंध के पांचवे अध्याय के 19वें श्लोक के गोरखपुर संस्करण के हिंदी अनुवाद को ही देख लेते, तो उन्हें यह जानकारी मिलती "मेरे इस अवतार शरीर का रहस्य साधारणजनों के लिए बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मैंने अधर्म को अपने से बहुत दूर पीछे की ओर ढकेल दिया है। इसीसे सत्पुरुष मुझे 'ऋषभ' कहते हैं।" ये शब्द भागवतकार ने पुत्रों को उपदेश देते समय ऋषभ से कहलवाये हैं।

वैदिक-कोश में भी उन्हें ऋषभ के अर्थ विज्ञानवान् (परमयोगी), उत्कृष्ट गुणकर्म स्वभावस्य राज्ञः तथा अनंतबलः (परमात्मा), आदि अर्थ विद्वान् लेखक को मिल जाते।

'हलायुध कोश' में ऋषभ को आदिजिनः अवतारविशेषः कहा गया है।

4. जन्मपद राज्य – शैशुनाक वंश

ईसा से छठी शताब्दी पूर्व में सोलह महाजनपद थे। उनकी जानकारी के संबंध में श्री शर्मा ने यह नहीं बताया कि उनके संबंध में जैन-ग्रंथों से सबसे अधिक सूचना प्राप्त हुई है। किंतु बुद्ध-काल में नगरों के संबंध में उनकी सूचना है कि "पालि और संस्कृत-ग्रंथों में उल्लिखित अनेक नगरों को खोद (किसने?) निकाला गया है, जैसे कौशाम्बी, श्रावस्ती, अयोध्या, कपिलवस्तु, वाराणसी, वैशाली, राजगीर, पाटलिपुत्र और चम्पा।" कपिलवस्तु को छोड़कर अन्य सभी स्थान जैन-ग्रंथों में अधिक चर्चित एवं वंदनीय माने गए हैं।

बिंबिसार और अजातशत्रु बुद्ध के सामने नतमस्तक हुए थे —यह श्री शर्मा का कथन है। किंतु बिंबिसार महावीर का परम श्रोता था। महावीर की माता त्रिशला वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष चेटक की पुत्री थी। त्रिशला की बहिन चेलना का विवाह बिंबिसार से हुआ था। बिंबिसार ने महावीर से जो प्रश्न किए, उनसे जैन-पुराण भरे पड़े हैं। किंतु श्री शर्मा ने यह

लिख दिया कि “उस समय का राजा बुद्ध जैसे धार्मिक महापुरुषों के आगे ही नतमस्तक होता था... बिबिसार और अजातशत्रु इसके अच्छे उदाहरण हैं।” किंतु बिबिसार तो बुद्ध द्वारा अपने धर्म का प्रचार करने से पहले ही महावीर का अनुयायी हो चुका था।

—(डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास-एक दृष्टि, पृ० 63)

जहाँ तक अजातशत्रु का प्रश्न है, वह तो बुद्ध से यह पूछने गया था कि किस प्रकार वह वृज्जि विदेह और वैशाली गणतंत्रों पर विजय पा सकता है। गौतम बुद्ध ने इन गणतंत्रों की सात विशेषतायें अपने शिष्य आनंद को लक्ष्य कर बतायीं। उनमें यह भी थी कि जब तक ये मिलकर काम करते रहेंगे, तब तक वे वृद्धि को प्राप्त होंगे। अजातशत्रु को मंत्र मिल गया और उसने इन गणतंत्रों को अपने राज्य में मिला लिया। यह विजेता भी जैन था। किंतु बौद्ध-परंपरा से बाद में जोड़ दिया गया बताया जाता है। उसने कोई बौद्ध-स्मारक बनाया हो—ऐसा प्रमाण नहीं मिलता।

5. बुद्धकाल में राज्य और वर्ण-समाज

यह तो संभवतः सभी जानते हैं कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी महावीर और गौतम बुद्ध का युग था और दोनों ने ही वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था; किंतु श्री शर्मा ने अध्याय 13 में यह मत व्यक्त किया है कि इस युग में “वर्ण-व्यवस्था की गई और हर एक वर्ण का कर्तव्य (पेशा) स्पष्ट रीति से निर्धारित कर दिया गया।” (पृ०126)। इस कथन से बढ़कर तथ्यविरोध और क्या हो सकता है? एक इतिहासकार के अनुसार तो उस समय बुद्ध के बहुत ही कम अनुयायी थे। वास्तव में वह महावीर का युग था। वे बुद्ध से ज्येष्ठ थे और बुद्ध से पहले ही अपने श्रमणधर्म का प्रचार प्रारंभ कर चुके थे। अच्छा होता कि इस अध्याय का नाम ‘महावीर युग की स्थिति’ होता। यदि बुद्ध के प्रति आग्रह ही था, तो ‘महावीर-बुद्ध युग’ शीर्षक हो सकता था; किंतु लेखक का उद्देश्य तो वर्ण-व्यवस्था की श्रेष्ठता बताना संभवतः था।

6. वैशाली गणतंत्र

श्री शर्मा ने वैशाली-गणतंत्र के प्रशासन-तंत्र की चर्चा की है। किंतु एक बार भी ‘वैशाली-गणतंत्र’ समस्त पद का प्रयोग नहीं किया है। शायद उन्होंने यह विद्यार्थियों पर छोड़ दिया है कि वे अनुमान कर लें कि वैशाली नाम का कोई गणतंत्र भी था। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने उसे “Recorded Republics” में गणित किया है। उसका विस्तृत वर्णन बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध है। बुद्ध ने अंतिम वैशाली दर्शन के समय हाथी की भाँति मुड़ते हुए अपने शिष्य आनंद से कहा था कि “वह उनके संघ का संगठन वैशाली जैसा करे।” श्री दिनकर ने वैशाली को ‘संसदों की जननी’ कहा है। यह गणतंत्र विश्व का सबसे प्राचीन गणतंत्र माना जाता है, जिसका लिखित विवरण उपलब्ध है।

वैशाली के लिच्छवियों की न्याय-प्रणाली की श्री शर्मा ने एक प्रकार से खिल्ली उड़ाई

है। वे लिखते हैं “लिच्छवियों के गणराज्यों में एक के ऊपर एक सात न्यायपीठ होते थे, जो एक ही मामले की सुनवाई बारी-बारी से सात बार करते थे। लेकिन यह अत्यधिक उत्तम होने के कारण अविश्वसनीय है।” इसके विपरीत श्री जायसवाल का मत है, “Liberty of the citizen was most jealously guarded. A citizen could not be held guilty unless he was considered so by the Senapati, the Upraja and the Raja seperately and without dissent.” (*Hindu Polity, p. 46*) यह अतिरिक्त सावधानी उक्त सप्त-व्यवस्था के अतिरिक्त थी। उसका सबसे उच्च निर्णायक गणतंत्र का अध्यक्ष होता था। आजकल भी तो राष्ट्रपति को क्षमादान का अधिकार उच्चतम न्यायालय के फैसले के बाद भी है और उस पर अपनी टिप्पणी मंत्री ही भेजता है।

7. चंद्रगुप्त मौर्य दासी-पुत्र नहीं

श्री शर्मा ने अध्याय 14 को ‘मौर्य युग’ नाम दिया है, किंतु अन्य अध्यायों की भाँति एक भी सहायक पुस्तक का नाम नहीं दिया है। अध्याय 23 में उन्होंने इतिहासकार श्री रामशंकर त्रिपाठी की पुस्तक का नाम दिया है। श्री त्रिपाठी की *History of Ancient India* भी उन्होंने देखी होगी। उसमें श्री त्रिपाठी ने इस बात का खंडन किया है कि ‘मुरा’ से ‘मौर्य’ शब्द बना है। वास्तव में नेपाल की तराई में ‘पिप्पली’ गणतंत्र के क्षत्रिय ‘मोरिय’ वंश में चंद्रगुप्त का जन्म हुआ था। इसलिए वे ‘मौर्य’ कहलाए। ब्राह्मण-परंपरा ने उन्हें निम्न उत्पत्ति का बतलाने के लिए यह कहानी गढ़ ली है — ऐसा जान पड़ता है। इसी प्रकार इस परंपरा में जैन नंद राजाओं को भी ‘शूद्र’ कहा गया है। कुछ इतिहासकार उसी को सच मानकर असत्य का साथ देते हैं। सम्राट् खारवेल के शिलालेख में स्पष्ट उल्लेख है कि नंद राजा कलिंगजिन की प्रतिमा उठा ले गया था, उसे वह वापस लाया है। स्पष्ट है कि नंद राजा जैन थे। श्री शर्मा ने तो खारवेल के शिलालेख के उल्लेख से ही परहेज किया है — ऐसा जान पड़ता है।

8. जैन सम्राट् खारवेल के शिलालेख की अनदेखी

खारवेल का लगभग 2200 वर्ष प्राचीन शिलालेख भारत के पुरातात्विक इतिहास में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वह आज भी विद्यमान है। श्री शर्मा ने उसका उल्लेख ही नहीं किया है। केवल पृ० 209 पर खारवेल का नाम लेकर हाथ धो लिए हैं। किंतु अगले ही पृष्ठ पर वसिष्ठ, नल, मान, माठर जैसे छोटे-छोटे राज्यों का उड़ीसा में होना पहिचान कर बताया है और यह लिखा है, “हर राज्य ने ब्राह्मणों को बुलाया था। अधिकांश राजा वैदिक यज्ञ करते थे।” यह है एक इतिहासकार का दृष्टिकोण। दीर्घजीवी मौर्य-शासन के राजा जैन थे— ऐसा लिखना वे न जाने किस कारण से भूल गए। अशोक को भी भंडारकर आदि विद्वानों ने जैन माना है। मौर्य-वंश के सभी राजा जैन थे — ऐसा कथन इतिहास के साथ न्यायपूर्ण होता।

9. दक्षिण भारत

श्री शर्मा ने दक्षिण भारत के 'सातवाहन' और सुदूर दक्षिण के तीन राज्यों कर्नाटक, तमिलनाडु (प्राचीन नाम तमिलगम) और केरल में ब्राह्मण राजाओं का ही प्राधान्य, वैदिक यज्ञों का प्रचार आदि पर ही अधिक जोर दिया है। मौर्य-शासन की समाप्ति (मौर्य राजा की हत्या उसके ब्राह्मण सेनापति ने की थी) पर उनकी टिप्पणी है.. "मौर्य-साम्राज्य के खंडहर पर खड़े हुए कुछ नए राज्यों के शासक ब्राह्मण हुए। मध्यप्रदेश में और उससे पूरब मौर्य साम्राज्य के अवशेषों पर शासन करनेवाले 'शुंग' और 'कण्व' ब्राह्मण थे। इसी प्रकार 'दकन' और 'आंध्र' में चिरस्थायी राज्य स्थापित करनेवाले सातवाहन भी अपने आपको ब्राह्मण मानते थे। इन ब्राह्मण राजाओं ने वैदिक यज्ञ किए, जिनकी अशोक ने उपेक्षा की थी।"

इतिहास के ज्ञाता जानते हैं कि 'शुंग' और 'कण्व' वंश अल्पजीवी थे। किंतु शर्माजी ने दीर्घजीवी मौर्ययुग के प्रथम सम्राट् चंद्रगुप्त के बारे में इतना भी नहीं लिखा कि वह जैनधर्म का अनुयायी था। इसका प्रमाण श्रीरंगपट्टन का शिलालेख है, जो कि 600 ई० का है और इस पुस्तक की समय-सीमा में आता है।

आंध्र के सातवाहन वंश के एक राजा हाल ने महाराष्ट्री प्राकृत में 'गाथा सप्तशती' लिखी है, उस पर जैन प्रभाव है। इस शासन में "प्राकृत भाषा का ही प्रचार था" (डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन)। प्राचीन जैन-साहित्य में भी सातवाहन राजाओं के उल्लेख पाए जाते हैं। शायद श्री शर्मा का ध्यान इन तथ्यों की ओर नहीं गया। उन्होंने यह अवश्य लिखा है कि "उत्तर के कट्टर ब्राह्मण लोग आंध्रों को वर्णसंकर मानकर हीन समझते थे।" (पृ०164)

कर्नाटक के 'कदम्ब' और 'गंग' वंश जैनधर्म के अनुयायी थे। उनके संबंध में श्री शर्मा का मत है.. "पश्चिमी गंग राजाओं ने अधिकतर भूमिदान जैनों को दिया। कदम्ब राजाओं ने भी जैनों को दान दिया, पर वे ब्राह्मणों की ओर अधिक झुके हुए थे।"

कर्नाटक के इतिहास की सबसे प्रमुख घटना 'हेमांगद देश' (कोलार गोल्ड फील्ड से पहिचान की जाती है) के राजा जीवंधर द्वारा स्वयं महावीर से जैन-मुनि-दीक्षा लेना है। कर्नाटक स्टेट गजेटियर में उल्लेख है, "Jainism in Karnataka is belived to go back to the days of Bhagawan Mahavir, a prince from Karnatak is described as having been initiated by Mahavir himself."

दूसरी प्रमुख घटना चंद्रगुप्त मौर्य का श्रवणबेलगोल की चंद्रगिरि पहाड़ी पर तपस्या एवं समाधिपूर्वक देहत्याग की है।

श्री शर्मा ने इतिहास-प्रसिद्ध इन घटनाओं का उल्लेख नहीं किया है, जब कि इस ब्राह्मण अनुश्रुति का उल्लेख किया है, कहा जाता है कि "मयूरशर्मन् ने (कदम्ब वंश का संस्थापक) अठारह अश्वमेध यज्ञ किए और ब्राह्मणों को असंख्य (?) गाँव दान में दिए।" प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् श्री रामचंद्रन का मत है कि बनवासी के कदम्ब शासक यद्यपि हिंदू थे, तथापि उनकी बहुत-सी प्रजा जैन होने के कारण वे भी यथाक्रम जैनधर्म के अनकूल थे।

गंग वंश के संबंध में श्री शर्मा ने ऊपर कही गई दान की बात के अलावा और कोई तथ्य नहीं लिखा। इस वंश की स्थापना में सर्वाधिक योगदान जैनाचार्य सिंहनदि का था। अनेक गंग राजाओं ने जैन मंदिरों आदि का निर्माण करवाया था। श्री रामचंद्रन ने लिखा है, “जैनधर्म का स्वर्णयुग साधारणतया दक्षिण भारत में और विशेषकर कर्नाटक में गंग वंश के शासकों के समय में था, जिन्होंने जैनधर्म को राष्ट्रधर्म के रूप में स्वीकार किया था।”

तमिलनाडु (तमिलगम); इस प्रदेश के चार राजवंश प्रख्यात हैं। पल्लव, पांड्य, चोल और चेर।

पल्लव वंश आंध्र और तमिलनाडु के सीमावर्ती प्रदेश पर शासन करता था। उसकी राजधानी कांजीवरम् (कांची) थी। इसके संबंध में श्री शर्मा लिखते हैं कि पल्लव किसी कबीले के थे और उन्हें “पूरा-पूरा सभ्य होने में कुछ समय लगा; क्योंकि पल्लव शब्द का अर्थ तमिल भाषा में डकू होता है।” प्रसिद्ध जैनाचार्य समन्तभद्र अपने को कांची का निवासी बताते थे। इस वंश का राज्य दूसरी सदी में स्थापित माना जाता है। इस वंश के कुछ राजा जैन थे। छठी सदी में इस वंश के महेंद्रवर्मन प्रथम (600-630) ने अनेक जैन मंदिरों तथा गुफाओं का निर्माण करवाया था। प्रसिद्ध ‘सितन्नवासल’ जैन-गुफा का निर्माण भी उसीने करवाया था; किंतु वह शैव बन गया और उसने जैनधर्म को बहुत अधिक हानि पहुँचाई।

चोल वंश को सम्मिलित करते हुए भी श्री शर्मा ने लिखा है कि “तमिल देश में ईसा की आरंभिक सदियों में जो राज्य स्थापित हुए, उनका विकास ब्राह्मण-संस्कृति के प्रभाव से हुआ... राजा वैदिक यज्ञ करते थे। वेदानुयायी ब्राह्मण लोग शास्त्रार्थ करते थे।” यहाँ यह सूचना ही पर्याप्त जान पड़ती है कि चोल राजा कीलिकवर्मन का पुत्र शातिवर्मन (120-185 A.D.) जैन मुनि हो गया था और वह जैन-परंपरा में आचार्य समंतभद्र के नाम से आदरणीय और पूज्य है। स्वामी समंतभद्र ने भारत के अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ में विजय पाई थी। वे अपने आपको वादी, वाग्मी आदि कहते थे। चौथी सदी में जब चोल राजाओं का प्रभाव बढ़ा, तब भी वे जैनधर्म के प्रति सहिष्णु रहे।

पांड्य वंश का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। श्री शर्मा ने यह मत व्यक्त किया है कि “पांड्य राजाओं को रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार में लाभ होता था और उन्होंने रोमन सम्राट् ऑगस्टस के दरबार में राजदूत भेजे। ब्राह्मणों का अच्छा स्थान था।” पृ० 172 किंतु डॉ० ज्योतिप्रसाद का कथन है, “ई० पूर्व 25 में तत्कालीन पांड्य नरेश ने एक जैन श्रमणाचार्य को सुदूर रोम के सम्राट् ऑगस्टस के दरबार में अपना राजदूत बनाकर भेजा था। भड़ौच के बंदरगाह से जलपोत द्वारा यह यात्रा प्रारंभ हुई थी। उक्त मुनि ने अपना अंत निकट जानकर रोम नगर में सल्लेखना द्वारा देह त्याग दी थी और वहाँ उनकी समाधि बनी थी।”

—(पृ० 246)

चेर राजवंश का नाम अशोक के शिलालेख में भी है। यह वंश आरंभ से ही जैनधर्म

का अनुयायी प्रतीत होता है। श्री शर्मा ने यह लिखा है कि "चेरों ने चोल-नरेश कारिकल के पिता का वध कर दिया, किंतु चेर-नरेश को अपनी जान गंवानी पड़ी। ...कहा जाता है कि चेर-राजा ने पीठ में घाव लगने के कारण लज्जावश आत्महत्या कर ली।" यह राजा उदियन चेर लातन था। इस शासक के संबंध में उसके शत्रु-राजा के कवि ने उसके बारे में लिखा था, "Is not he (cher king) nobler than thee (Chol Karikal) who ashamed of the wound on his back, starves without food to gain glorious death?" अपना अंत समय निकट जानकर अन्न-जल का त्याग करना जैन-परंपरा में 'सल्लेखना धारण करना' कहलाता है। कवि ने इसी सल्लेखना की प्रशंसा की है। उदियन ने सल्लेखना धारण की थी, न कि आत्महत्या की थी। तमिल में 'सल्लेखना' को वडक्किरुत्तल कहते हैं। दूसरी सदी में हुए युवराजपाद इलेगो अडिगल (शिलप्पदिकारम् नामक महाकाव्य में जैन श्राविका कण्णगी और उसके पति कोवलन की अमर प्रेम गाथा के महाकवि) भी जैन आचार्य थे। इस वंश के चेर काप्पियन के लिए निर्मित शैल शय्या आज भी 'पुगलूर' में (तमिलनाडु) है।

कलभ्र शासक :— ईसा की तीसरी से पाँचवी सदी का केरल सहित तमिलनाडु का इतिहास अंधकारपूर्ण (historical night) माना जाता है, अर्थात् उस काल का कोई इतिहास नहीं मिलता। इतना लिखा मिलता है कि कलभ्र शासक 'कलि अरसन' यानी कलिकाल में सभ्यता के शत्रु थे। श्री शर्मा ने पृ० 225 पर लिखा है, "कालभ्रों को दुष्ट राजा कहा गया है। उन्होंने अनेकानेक राजाओं को उखाड़ फेंका और तमिलनाडु पर अपना कब्जा जमा लिया। उन्होंने बहुत-सारे गाँवों में ब्राह्मणों को मिले 'ब्रह्मदेय' अधिकारों को खत्म कर दिया। लगता है कि कलभ्र बौद्धधर्म के अनुयायी थे।" वास्तव में कलभ्र जैन थे। कुछ लोग उन्हें कर्नाटक से आए बताते हैं। रामास्वामी आयंगर का मत है, "It looks as though the Jains had themselves invited the Kalabhras to establish Jainism more firmly in the country. The period of the Kalabhras and that which succeeds it must, therefore, be considered as the period when the Jains had reached their zenith. It was during this period that the famous Naladiyar (collection of didactical poems by Jain ascetics) was composed by the Jains. There are two references in Naladiyar to Muttaraiyar (lords of pearls) indicating that the Kalabhras were Jains and patrons of Tamil literature," p.56, Studies in South Indian Jainism. ❖❖

संगति-प्रभाव

"अलं तेनामृतेन यत्रास्ति विषसंसर्गः।" —(नीतिवाक्यामृत. 72)

अर्थ:— जिस अमृत में विष का अंश मिला हो, वह अमृत भी सेवन करने योग्य नहीं होता है। **

आषाढी पूर्णिमा : एक महत्त्वपूर्ण तिथि

—डॉ० सुदीप जैन

भारतीय संस्कृति में तिथियों की महत्ता के पीछे कई अत्यन्त महनीय कारण रहे हैं। वे कारण प्रकृति, पर्यावरण, भूगोल, खगोल, मौसमविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, कृषि एवं उद्योग आदि बहुआयामी दृष्टियों से व्यापक महत्त्व के रहे हैं। यहाँ तक कि मात्र धार्मिक दृष्टि से उपयोगी मानी गयी तिथियों के पीछे भी ऐसे वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक कारण भी अन्तर्निहित रहे हैं। 'अष्टमी' और 'चतुर्दशी' तिथियों में व्रत-उपवास का सीधा सम्बन्ध खगोल-विज्ञान व शरीर-विज्ञान से युगपत् है। शरीर के जलीयतत्त्व में चन्द्रमा के प्रभाव से न्यूनाधिक्य समुद्र के ज्वार-भाटे की तरह आता रहता है; अतः उसके संतुलन के लिए तथा पाचनतंत्र को विश्राम देने के लिए इन तिथियों में व्रत-उपवास आदि की वैज्ञानिक उपादेयता है। इसीप्रकार चैत्रमास से नववर्ष का प्रचलन उत्तर भारत के मैदानी भागों की मुख्य फसल 'रबी की फसल' के आने से जुड़ा हुआ है। कृषिप्रधान इस देश में अर्थतन्त्र की रीढ़ मुख्य फसल ही होती है, अतः उसी से होली एवं चैत्र-नववर्ष की तिथियों को व्यावहारिक महत्ता मिली है। 'अष्टाहिनिका पर्व' एवं 'दशलक्षण पर्व' वर्ष में तीन-तीन बार आते हैं। ये ऋतु-परिवर्तन के समय आहारशुद्धि के द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य के संतुलन में अद्भुत वैज्ञानिक महत्त्व के होते हैं; क्योंकि इन दिनों व्रत-उपवास आदि के द्वारा शरीर के संचित विकारों का क्षय करके उसे नये मौसम के अनुकूल बनने में मदद मिलती है। विचार-शुद्धि की दृष्टि से इनका अध्यात्मिक महत्त्व तो सुप्रमाणित है ही। वैदिक परम्परा के तीन बार के नवरात्र भी इसी श्रेणी में आते हैं। इसीप्रकार 'देवोत्थानी एकादशी' जैसी तिथियाँ प्रकृति एवं पर्यावरण की अनुकूलता का वह सिंहद्वार हैं, जो कार्यक्रमों के आयोजन के लिए सुखद एवं अनुकूल वातावरण की सुनिश्चिता प्रमाणित करती हैं। 'बसंतपंचमी' को 'बिना शोधा मुहूर्त' कहे जाने के पीछे भी यही दृष्टि निहित है।

उक्त सांकेतिक विवरण से यह सत्यापित हो जाता है कि भारतीय परम्परा में तिथियों की महत्ता भले ही धार्मिक और कर्मकाण्ड की दृष्टि से बतायी गयी हो; किंतु वे तिथियाँ बहुआयामी दृष्टियों से उपयोगी होती हैं। इसी क्रम में एक तिथि का उल्लेख

जैन-परम्परा में मिलता है, वह है 'आषाढी पूर्णिमा' का इस दिन समस्त जैनश्रमण एवं श्रमणायें अपना 'चातुर्मास' या 'वर्षायोग' स्थापित करते हैं। चूँकि इसके बाद अगले दिन से 'श्रावण' मास प्रारम्भ होता है, तथा सावन-भादों का समय प्रबल वर्षा का समय होता है। और वर्षा के समय नदी-नालों में बाढ़ की स्थिति हो जाने, सर्वत्र जल की बहुलता होने एवं जल के प्रभाव से हरित वनस्पतियों तथा वर्षाकालीन 'उद्भिज्' जीव-जन्तुओं की अधिकता हो जाने से जैनश्रमण एवं श्रमणायें 'अहिंसा महाव्रत' में दोष न लगे —इस दृष्टि से अतिरिक्त गमनागमन का निरोध करके मर्यादापूर्वक सीमितक्षेत्र में ही निवास करते हुए धर्मसाधन करते हैं। इसके परिणामस्वरूप उस क्षेत्र में दीर्घावधि तक धर्मप्रभावना का योग बना रहता है; तथा उस क्षेत्र के निवासियों को वर्षा के कारण व्यापार आदि के निमित्त न जा सकने से उत्पन्न खालीपन की स्थिति नहीं रहती है और वे भी श्रमणसंघों के सान्निध्य में ज्ञान प्राप्तकर प्रसन्नतापूर्वक धर्मसाधन करते हैं। इसप्रकार यह तिथि गृहस्थों एवं साधुवर्ग —दोनों के लिए 'मील का पत्थर' सिद्ध होती है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या यह तिथि मात्र मानसून के प्रभाव की विवशता से महनीय बन गयी है, या इसके कुछ अन्य भी कारण हैं? भारतीय वाङ्मय के आलोडन से इस तिथि की महत्ता के विषय में कुछ और भी महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होते हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है—

1. **कर्क-सक्रान्ति** :— भारतीय ज्योतिष के अनुसार 'धूम्रमार्गी कर्क-सक्रान्ति' इसी आषाढी पूर्णिमा के दिन होती है।

2. **सूर्य-चंद्र-दर्शन** :— 'कृतयुग' के प्रारम्भ में जब प्रथम बार चन्द्र और सूर्य के प्रथम बार हुए दर्शन से प्रजाजनों को उत्पन्न भय का निवारण 'प्रतिश्रुति' नामक प्रथम कुलकर ने इसी दिन किया था। अतः इसका पौराणिक महत्त्व है। इस बारे में आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं—

“चंदादिच्चाण आसाढपुण्णिमाए ।” —(तिलोयपण्णत्ति, 2/430 पृष्ठ 127)

3. **संवत्सरतम** :— इसी तिथि को प्राचीनकाल में वर्ष की पूर्णता मानी जाती थी। इस दिन पूरे वर्ष का हिसाब-किताब पूर्ण कर लेखा-परीक्षक को सौंप दिया जाता था। इसीलिए आचार्य पाणिनी के भाष्यकार ने इसे 'संवत्सरतमः' संज्ञा प्रदान की है—

“संवत्सरस्य पूर्णो दिवसः संवत्सरतमः ।”

—(पाणिनी व्याकरण, काशिका भाष्य, 5/2/37)

4. **सांवत्सरिक प्रतिक्रमण-दिवस** :— जैन-परम्परा में श्रमणों के एक विशेष चारित्रिक शुद्धि-अनुष्ठान को 'प्रतिक्रमण' कहते हैं। इसके दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक एवं युगप्रतिक्रमण आदि कई भेद गिनाये जाते हैं। इनमें

वर्ष भर में एक बार किया जानेवाला प्रतिक्रमण 'सांवत्सरिक प्रतिक्रमण' कहलाता है। यह प्रतिक्रमण भी इसी 'आषाढी पूर्णिमा' को किये जाने का विधान पंडितप्रवर आशाधरसूरि ने किया है—

“आषाढान्त-सांवत्सरी प्रतिक्रमणे ।” —(अनगर धर्ममृत, 8/58)

इसे ही 'सांवत्सरिक आलोचना' भी कहा गया है—

“संवच्छरियं आलोचेदुं ।”

इसमें प्रतिक्रमण करने पर बारह उपवास किये जाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है—

“आसाढे संवच्छर-पडिक्कमणे दिज्जसु बारस-उववासा ।”

—(आचार्य इन्द्रनन्दि योगीन्द्र, 'छेदपिण्ड', 115)

5. कृषियुग-शुभारम्भ :— कहा जाता है कि इसी दिन प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने प्रजाजनों को कृषि आदि (असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिक्षा एवं शिल्प आदि) का ज्ञान दिया था—

“शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः”—(आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र, 1/2)

अतः यह 'कृतयुग' या 'कृषियुग' का शुभारम्भ-दिवस भी माना जाता है।

इसी तथ्य की पुष्टि करते हुये आचार्य जिनसेन लिखते हैं—

“आषाढमास-बहुल-प्रतिपददिवसे कृतो ।

कृत्वा कृतयुगारम्भं प्राजापत्यमुपेयिवान् ।।” —(महापुराण, 16/190)

6. मानसून-निर्धारक तिथि :— जैन-ज्योतिष के प्रमुख ग्रंथ 'भद्रबाहु संहिता' में लिखा है—

“आषाढी-पूर्णिमायान्तु पूर्ववातो यदा भवेत् ।

प्रवाति दिवसं सर्वं सुवृष्टिः सुषमा तदा ।।”

—('भद्रबाहुसंहिता', 9/7, पृष्ठ 105)

अर्थ:— 'आषाढी पूर्णिमा' के दिन यदि पूर्व दिशा की वायु (पुरवैया हवा) सम्पूर्ण दिन भर चलती है, तो उस वर्ष वर्षा ऋतु में अच्छी वर्षा होती है और वह वर्ष सुखमय (सुभिक्षतुमय) व्यतीत होता है।

आषाढ मास में शुक्लपक्ष की कुछ अन्य भी तिथियाँ महत्त्वपूर्ण मानी गयीं हैं। इनका संक्षिप्त उल्लेख निम्नानुसार है—

1. आषाढ शुक्ल चतुर्दशी :— 'कथा सरित्सागर' के अनुसार यह तिथि भारतीय परम्परा में स्नान-यात्रा के लिए उपयोगी मानी गयी है—

“तस्याषाढचतुर्दश्यां शुक्लायां प्रतिवत्सरम् ।

यात्रायां स्नातुमेत्तिम स्म नानादिग्भ्यो महाजनः ।।” —(2/136)

अर्थ:— इस आषाढ मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी तिथि को प्रतिवर्ष विभिन्न दिशाओं से महाजन स्नान के लिये यात्रा पर जाते थे।

2. आषाढ शुक्ल द्वादशी :— आषाढ मास के शुक्लपक्ष की ही द्वादशी तिथि 'सुरगुरु-दिवस' या 'बृहस्पति-दिवस' के रूप में भी मनायी जाती रही है। 'एरण' स्थित गुप्तयुगीन स्तम्भलेख में इसका निम्नानुसार उल्लेख मिलता है—

“आषाढमास शुक्लद्वादश्यां सुरगुरोर्दिवसे ।”

3. आषाढ शुक्ल एकादशी :— जैन-परम्परा के मूलग्रंथ 'छक्खंडागमसुत्त' की 'ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोश' कही जाने वाली विशालकाय 'धवला' टीका की पूर्णता इस तिथि को हुई थी, इसका स्वयं टीकाकार उल्लेख करते हैं—

“आसाढमास-सुक्कपक्ख-एँक्कारसीए पुव्वण्हे गंथो समाहिदो ।”

—(‘धवला, 1/1/1, पृष्ठ 71)

4. आषाढी-अष्टाहिनिका पर्व :— आषाढ मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी से लेकर पूर्णिमा तक आठ दिन यह पर्व जैन-परम्परा में धार्मिक एवं आध्यात्मिक उत्साहपूर्वक विविध धर्मानुष्ठानों के साथ मनाया जाता है। इस बारे में उल्लेख मिलता है—

“आसाढ-कत्तिय-फगुणमासाणं अट्ठमियाइं कादूण जाव पुण्णिमंति ।”

—(‘णंदीसरभत्ति, अंचलिका, पृष्ठ 132)

ऐसे ही अन्य कई उल्लेख आषाढमास के शुक्लपक्ष की तिथियों की महत्ता बताने वाले जैन-परम्परा एवं अन्य भारतीय परम्पराओं में पाये जाते हैं। इनका व्यापक दृष्टियों से अध्ययन एवं अनुसंधान अपेक्षित है। ❖❖

अग्निकायिक जीव

“जो तेऊकाय जीवे, अदिसद्दहदि जिणेहि पण्णत्तं ।

उवलद्ध पुण्णपावस्स, तस्सुवद्वावण अत्थि ।।”

—(आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार, 10/140)

अर्थ:— जो तीर्थंकर जिनेन्द्रों ने कहे हुए अग्निकायिक जीवों और तदाश्रित सूक्ष्म जीवों के ऊपर श्रद्धा रखता है तथा पुण्यपाप का स्वरूप जानता है, वह मोक्षमार्ग में स्थिर रहता है।

एक दीपक एक ही समय में (1) अन्धकार को प्रकाशरूप में परिवर्तन करता है, (2) प्रकाश फैलाता है, (3) गर्मी प्रताप को उत्पन्न करता है, (4) दाहकत्व गुण देखा जाता है, (5) बाती के मुख खाता है, (6) द्रव्य पदार्थ तेल को पीता है, (7) धूम्र कालिमा (सौच) करता है।

“दीपो भक्षयते ध्वांसं कज्जलं च प्रसूयते ।”

**

पुस्तक-समीक्षा

(1)

पुस्तक का नाम	: पुण्यास्रव कथा (कोश)
मूल लेखक	: महाकवि रङ्घू
सम्पादन एवं अनु०	: प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन
प्रकाशक	: श्री दिगम्बर जैन साहित्य-संस्कृति संरक्षण समिति, दिल्ली
संस्करण	: प्रथम, जनवरी 2000 ई०, 1000 प्रतियाँ
मूल्य	: 75/- (शास्त्राकार, पक्की बाईडिंग, लगभग 360 पृष्ठ)

आज प्राचीन आचार्यों एवं मनीषियों की रचनाओं का अनुसन्धान करके उन पर प्रामाणिक सम्पादन, अनुवाद कार्य करके प्रकाशित कराने वाले ठोस विद्वानों का प्रायः अभाव हो चला है। अपने नाम से पुस्तकें लिखकर समाज एवं प्रकाशन-संस्थानों से छपाने का ही कार्य विद्वत्ता एवं प्रकाशन के नाम पर जैनसमाज में मुख्यता से हो रहा है। ऐसे में एक वयोवृद्ध, यशस्वी एवं प्रामाणिक सुप्रतिष्ठित अनुसन्धाता विद्वान् की पवित्र लेखनी से सम्पादित एवं अनूदित होकर आनेवाली यह रचना निश्चय ही अत्यन्त बहुमान के योग्य है।

यशःकाय विद्वान् प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन वर्तमान जैन-विद्वत्परम्परा में पाण्डुलिपियों का प्रामाणिक सम्पादन व अनुवाद करनेवाले संभवतः सर्वाधिक अनुभवी एवं सुपरिचित हस्ताक्षर हैं। उनके लेखनी के संस्पर्श से प्रकाश में आने वाले प्राचीन अप्रकाशित साहित्य की एक यशस्वी परम्परा है, जिससे विद्वज्जगत् एवं जैनसमाज सुपरिचित है। महाकवि रङ्घू के साहित्य के बारे में तो आज के कॉपीराइट बाजार के वे एकमात्र सुयोग्य अधिकारी हैं। अब से लेकर चिरकाल तक जब भी रङ्घू कवि एवं उनकी रचनाओं पर चर्चा, लेखन आदि कुछ भी किया जायेगा, प्रो० (डॉ०) राजाराम जी के योगदान का प्रमुखता से उल्लेख किये बिना वह कार्य कभी भी पूर्ण नहीं माना जायेगा।

अपभ्रंश भाषा में रचित महाकवि रङ्घू की इस विशालकाय रचना का विभिन्न पाण्डुलिपियों से प्रामाणिक सम्पादन एवं शब्द-अर्थ की सुसंगति से समन्वित अनुवाद प्रस्तुत होना इस संस्करण की श्रीवृद्धि करता है।

वस्तुतः ऐसा महनीय प्रकाशन करके प्रकाशक-संस्थान की ही प्रतिष्ठा बढ़ी है। अनेकों जैन समाज की प्रकाशक-संस्थाएँ मात्र 'ट्रेक्ट' स्तर के प्रकाशन करके अपनी वाहवाही कराने की चेष्टा करती रहती हैं। हमारे प्राचीन आचार्यों एवं मनीषियों की अमूल्य धरोहर को प्रकाश में लाने का समय, भावना एवं सामर्थ्य संभवतः उनमें नहीं है। ऐसी स्थिति में यह प्रकाशन अवश्य ही मंगलकलश लेकर स्वागत करने-योग्य एवं घर-घर में हर व्यक्ति के द्वारा पढ़ा जाने योग्य है।

विशेषतः छोटी-छोटी कथाओं को सुन्दर ढंग से गूँथकर रची गयी यह कृति हर आयुवर्ग एवं हर स्तर के व्यक्तियों के लिये सुबोधगम्य एवं प्रेरणास्पद सिद्ध हो सकेगी—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। इसकी कथायें परम्परागत नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के साथ-साथ आधुनिक परिस्थितियों में भी बहुत प्रेरक है।

मैं विद्वद्वरेण्य संपादक एवं प्रकाशक-संस्थान का इस प्रकाशन के लिये हार्दिक अभिनंदन करता हूँ तथा समाज के प्रत्येक वर्ग से इसका स्वाध्याय करने की अपील करता हूँ। वस्तुतः यह प्रत्येक व्यक्ति के निजी संग्रह में रखने योग्य अनुपम रचना है।

—सम्पादक * * *

(2)

पुस्तक का नाम	: भरत और भारत
लेखक	: डॉ० प्रेमसागर जैन
सम्पादन एवं प्रस्तावना	: डॉ० सुदीप जैन
प्रकाशक	: श्री कुन्दकुन्द भारती न्यास, नई दिल्ली-110067
मूल्य	: पन्द्रह रुपये, (डिमाई साईज़, पेपरबैक, 48 पृष्ठ)

हमारे देश का मूल नामकरण क्या था? और वह क्यों पड़ा?—इन बातों का ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के आलोक में प्रस्तुतीकरण इस कृति में दृष्टिगोचर होता है। धर्म या संप्रदाय के पूर्वाग्रह से रहित होकर मात्र तथ्यात्मक सामग्री को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना इनका मुख्य आकर्षण है। इसके आधार पर निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि इस देश का मूल एवं प्राचीनतम नाम 'अजनाभवर्ष' था, जो कि चौदहवें कुलकर नाभिराय (ऋषभदेव के पिताश्री) के नाम पर पड़ा था। तथा बाद में इसका नाम 'भारतवर्ष' हुआ, जो कि प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् भरत (नाभिराय के पौत्र एवं ऋषभदेव के पुत्र) के नाम पर हुआ।

ऐसी तथ्याधारित सामग्री को प्रकाशित कराने के लिये प्रकाशक संस्थान अभिनंदनीय है। विशेषतः वर्तमान परिप्रेक्ष्य में, जब जैनधर्म और संस्कृति के बारे में सरकारी एवं साम्प्रदायिक संस्थाओं के प्रकाशनों में भरपूर अनर्गल तथ्यविहीन बातें प्रकाशित हो रहीं हैं, तब यह प्रामाणिक रचना प्रकाशित होना अत्यन्त सामयिक एवं बेहद उपयोगी है।

निर्दोष टंकण, आदर्श सम्पादन एवं नयनाभिराम मुद्रण की त्रिवेणी से समन्वित यह संस्करण और भी उपादेय बन गया है। आशा है इसको व्यापक जनादर प्राप्त होगा। यह कृति केन्द्र सरकार व राज्य सरकारों के प्रत्येक संस्थान में, विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, सार्वजनिक पुस्तकालयों एवं इतिहास-संस्कृति के विद्वानों के पास अवश्य भिजवायी जानी चाहिए; ताकि इसमें निहित अत्यंत उपयोगी जानकारी का व्यापक उपयोग हो सके। साथ ही जैन-संस्कृति के प्रत्येक मंदिर में तथा प्रत्येक जैनधर्मानुरागी सज्जन के पास यह कृति अवश्य ही होनी चाहिये। इससे जैन-परम्परा का गौरवमय इतिवृत्त ज्ञात होगा तथा अनेकों भ्रमों का निवारण हो सकेगा।

—सम्पादक * *

(3)

पुस्तक का नाम : तत्त्वार्थसूत्र व भक्तामरस्तोत्र का मराठी अनुवाद
 अनुवाद : श्री मनोहर मारवडकर
 प्रकाशक : युगम प्रकाशन, 17-बी, महावीर नगर, नागपुर-440009 (महा०)
 संस्करण : प्रथम, 1000 प्रतियाँ, पेपरबैक, पृष्ठ 48
 मूल्य : दस रुपये

'तत्त्वार्थसूत्र' एवं 'भक्तामरस्तोत्र' जैनसमाज में सर्वाधिक पढी जाने वाले धार्मिक ग्रंथ हैं। ये क्रमशः तत्त्वज्ञान एवं भक्तिरस के अनुपम निदर्शन हैं। अभी तक हिन्दी एवं अंग्रेजी आदि भाषाओं में इनके अनेकों संस्करण दृष्टिगत हुए थे, किंतु मराठी भाषा में भावानुवाद वाला संभवतः यह प्रथम संस्करण मुझे दृष्टिगोचर हुआ है। इसमें विद्वान् अनुवादक ने भाषा एवं भावों का सामंजस्य बिठाकर कम शब्दों में ही सरल व सटीक ढंग से अपनी बात को प्रस्तुत किया है। मूल अभिप्राय की सुरक्षा इसकी प्रमुख विशेषता है।

इस सादा कलेवर के, किन्तु उपयोगी प्रकाशन के लिये अनुवादक एवं प्रकाशक — दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

—सम्पादक * *

(4)

पुस्तक का नाम : दौलत-विलास
 मूलकर्ता : कविवर दौलतराम
 सम्पादन एवं अनु० : डॉ० वीरसागर जैन
 प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-110003
 मूल्य : पच्चास रुपये, (डिमाई साईज़, पृष्ठ 152)

कविवर पं० दौलतराम जी की कालजयी लोकप्रिय रचना 'छहढाला' की प्रतिियाँ जैनसमाज के घर-घर में तो हैं हीं, जैनेतर जिज्ञासु भी इसे चाव से पढ़ते व अपनी स्वाध्यायशाला में स्थान देते हैं। यह इतनी निर्विवाद एवं जनादृत रचना है कि यह सभी का कंठहार बन गयी है।

इन्हीं की प्रकीर्णक भजनों की एक और रचना 'दौलत-विलास' के नाम से अब प्रकाशित हुई है, जिसे विख्यात साहित्य-प्रकाशन संस्था 'भारतीय ज्ञानपीठ' ने प्रकाशित किया है। प्रकाशन-संस्था के स्तर के अनुरूप मुद्रण व प्रकाशन नयनाभिराम एवं स्तरीय हैं। विद्वान् संपादक की संक्षिप्त होते हुये भी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना भी चित्ताकर्षक हैं।

पुस्तक के प्रारंभ में मंगलाचरण-स्वरूप "सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि..." वाली बहुप्रचलित एवं अनेक बार प्रकाशित हो चुकी है। इसके उपरान्त आदिनाथ स्वामी, अभिनंदननाथ जी, पद्मप्रभ जी, चन्द्रप्रभ जी, वासुपूज्य स्वामी, शान्तिनाथ जी, कुंथुनाथ जी, नमिनाथ जी, नेमिनाथ जी, पार्श्वनाथ जी एवं महावीर स्वामी के स्तुतिपरक लगभग 24 भजन/स्तुतियाँ हैं। इसके बाद लगभग 100 भजन दर्शन-अध्यात्म एवं भक्ति का अनुपम त्रिवेणी संगम प्रस्तुत करते हैं। इनमें से भी कई भजन पूर्व-प्रकाशित भजन-संग्रहों में प्रकाशित मिल सकते हैं। किंतु पं० दौलतराम जी की समग्र कृति के रूप में 'दौलत-विलास' में उनका प्रकाशन एक व्यापक दृष्टिबोध देता है।

इस लोकोपयोगी प्रकाशन के लिए प्रकाशक-संस्थान तथा सम्पादक-अनुवादक विद्वान्—दोनों ही साधुवाद के पात्र हैं।

—सम्पादक * * *

(5)

पुस्तक का नाम : दीपावली-पूजन
सम्पादिका : श्रीमती नीतू जैन
प्रकाशक : श्री नानगराम जैन जौहरी
मूल्य : दस रुपये, (पिपरबैक, डिमाई साईज़, पृष्ठ 56)

'दीपावली-पूजन' सम्बन्धी सामग्री कमोबेश अनेकों पूजन-पाठ की पुस्तकों में तथा स्वतंत्र लघुकृतियों के रूप में यद्यपि अनेकत्र अनेकोंबार प्रकाशित हो चुकी है। इस संस्करण में विषयगत व्यापकता तथा अपेक्षाकृत शुद्ध प्रकाशन की प्रमुखता है। लोकव्यवहार की उपयोगी यह पुस्तक संभवतः अनेक लोगों के काम आयेगी। विदुषी संपादिका ने भी पर्याप्त श्रम किया है।

इस उपयोगी प्रकाशन के लिये प्रकाशक श्रीमान् धर्मानुरागी नानगराम जी जैन जौहरी बधाई के पात्र हैं।

—सम्पादक * * *

“नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ।

पशुत्वेऽपि नरायन्ते, सम्यक्त्वव्यक्तचेतना ॥”

—(अमरकोश, 5/1/4 पृष्ठ 30)

अर्थ:— मिथ्यात्व से व्याप्त है चित्त जिनका, ऐसे मिथ्यदृष्टि जीव मनुष्य होकर के भी पशुओं के समान आचरण करते हैं और सम्यक्त्व से युक्त है चेतना जिनकी, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव पशु होते हुये भी मनुष्य के समान आचरण करते हैं। * * *

अभिमत

● 'प्राकृतविद्या' के नवीन अंक से ज्ञात हुआ कि श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, प्राकृतभाषा विभाग ने शत-प्रतिशत परीक्षा परिणाम हासिल किया है, इसके लिये विद्यार्थियों के साथ-साथ आप भी बधाई के पात्र हैं। क्योंकि आपके ही विद्वत्तापूर्ण मार्गदर्शन का यह सुफल है।

आचार्य द्वितीय वर्ष के परीक्षाफल में 82.5 प्रतिशत अंक हासिल करके श्रीमती रंजना जैन जी ने 'प्रथम स्थान' प्राप्त किया है, इसके लिये उन्हें भी हमारी तरफ से बहुत-बहुत बधाईयाँ स्वीकृत हो। श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ इसी तरह से दिनों दिन उच्चांक हासिल करता रहे व उसके विद्यार्थी देश के गौरव में अपना सहयोग देते रहें यही हमारी शुभकामना है।

—सौ० शरयू दफ्तरी, मुम्बई ❀❀

● 'प्राकृतविद्या' का अप्रैल-जून '2000 ई० का अंक मिला। प्राकृतविद्या के माध्यम से ही मुझे 'णमोकारमंत्र' का ज्ञान मिला। पिछले अंकों में कई प्रसंगों में इस मन्त्र के बारे में पढ़ा है। परन्तु इस अंक में श्री जयचन्द्र शर्मा का लेख 'णमोकारमंत्र की जापसंख्या और पंचतन्त्री वीणा' (जो 'अर्हत् वचन' से साभार लिया गया है) सर्वथा नई जानकारी प्रदान करता है। ध्वनि का प्रभाव आधुनिक चिकित्सा शास्त्री, वैज्ञानिक, एवं मनीषी विद्वान् सभी मानने लगे हैं। अक्षररंक-शक्ति के संदर्भ में 'णमोकारमंत्र' का वर्णन तथा ध्वनिशास्त्र-संबंधी विवेचनायें अद्भुत हैं। इस संदर्भ में महामंत्र की उपयोगिता एवं महत्ता और प्रस्फुटित हुई है।

—डॉ० (श्रीमती) प्रवेश सक्सेना, नई दिल्ली ❀❀

● प्राकृतविद्या का अंक पढ़ा, प्रत्येक लेख पठनीय है, श्रमण संस्कृति का केन्द्र भारत सनातन से है। गोरक्षक अहिंसक संस्कृति लेख पूज्य आचार्य विद्यानन्द जी महाराजकृत पढ़ा, इसमें दया प्राणीमात्र का मूल कहा है।

“दया समो नहि धम्मो, अन्न समान उत्तम दानं।

सत्तसमो नहि कीर्ति, सील समो न सिंगारो।।”

अर्थ:— दया समान धर्म, अन्न ही उत्तम दान व सत्त्व ही कीर्ति है, शील सभी का भूषण है। देव भी नतमस्तक होते हैं। आर्यों की धरोहर प्रतिमा व शास्त्र है।

—वैद्य पं० नन्हेंलाल जैन 'प्रभाकर', चदेरिया (म०प्र) ❀❀

● प्राकृतविद्या अप्रैल-जून 2000ई० का अंक प्राप्त हुआ है। आभार। 'कातन्त्र

व्याकरण' पर राष्ट्रीय सेमिनार का विवरण पढ़ा। कातन्त्र-व्याकरण के सूत्रों के आधार पर आचार्य जिनप्रभसूरि ने श्रेणिक चरित्र (अपरनाम दुर्गवृत्ति द्वयाश्रय काव्य) की रचना की है। अद्यावधि अप्रगट इस काव्य में (कातन्त्र व्याकरण के उदाहरणों को और श्रेणिक चरित्र का गुंफन हुआ है) हम इसका संपादन कर रहे हैं, अतः एतद्विषयक लेख जिस अंक में प्रगट हुये हैं।

—आ० मुनिचन्द्र सूरि, (अहमदाबाद) **

अप्रैल-जून 2000ई० में प्राकृतविद्या में प्रकाशित लेख 'जैनदर्शन में रत्नत्रय की मीमांसा' में डॉ० दयाचन्द्र जी साहित्याचार्य ने यह बताकर कि "चारों अनुयोगों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के लक्षणों में शब्दों की अपेक्षा अन्तर प्रतिभाषित होता है। पर आत्मश्रद्धान की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है, चारों अनुयोगों की समान उपयोगिता पर प्रकाश डाला है।

प्रायः करणानुयोग व द्रव्यानुयोग के सतत स्वाध्यायप्रेमियों से सुना जाता है कि प्रथमानुयोग तो वे पढ़ें, जो मन्दबुद्धि है। प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में आनेवाली कठिनाई को नहीं समझने के कारण यह कहकर भी टाल देते हैं कि "जब आत्मा का इतना बड़ा आनन्द ले लिया, तो उसके सामने ये सब फीके हैं।" इन सभी बातों के बीच सभी के लिये यह आलेख एक दिशाबोधक है। —श्रीमती स्नेहलता जैन, मानसरोवर, जयपुर **

आपके द्वारा भेजी जा रही पत्रिका बराबर प्राप्त हो रही है, उसमें बड़े ही ज्ञानवर्धक लेख पढ़ने एवं समझने के लिये प्राप्त होते हैं, इसके लिये आपको हार्दिक धन्यवाद है।

—सुमत जैन, इटावा (उ०प्र०) **

अप्रैल-जून 2000ई० प्राकृतविद्या का अंक बड़ा सुहाया। अनेक लेख तो इतने जानकारीपूर्ण हैं कि इस प्रति को आगे बार-बार उद्धृत करने के लिये सुरक्षित रखने का संकल्प किया है। भाषा के विस्तृत विवरणों ने महत्त्व और भी बढ़ाया है।

—तेजराज जैन, मैसूर (कर्ना०) **

'प्राकृतविद्या' का नया अंक मिला। इसका हर एक लेख महत्त्वपूर्ण और संग्राह्य है।

—पं० बाहुबली पा० उपाध्ये, (कर्नाटक) **

माह अप्रैल-जून 2000ई० प्राकृतविद्या का अंक मिला, आभार। अंक सुरुचिपूर्ण, पठनीय एवं ज्ञानवर्धक सामग्री से ओतप्रोत है। सम्पादकीय में धार्मिक-सामाजिक आयोजनों की उपादेयता दर्शाते हुए सम्यग्दर्शन के दो महत्त्वपूर्ण अंगों—स्थितिकरण और प्रभावना पर दृष्टिपात करते धर्मात्माजनों के कर्तव्यों का बोध कराकर एक नया सोच पैदा करने का प्रयास किया गया है, जो सराहनीय है। प्राकृत का संस्कृत से सामंजस्य, आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की भाषा णमोकार-मंत्र संबंधी लेख शोधपूर्ण होकर चिन्तन के लिए मार्गप्रशस्त करते हैं।

प्राकृतविद्या प्रशस्ति-हिन्दी अनुवाद मूल जैसा ही सशक्त और बोधगम्य लगता है। तीर्थंकर महावीर के सिद्धान्तों की प्रासंगिकता आलेख संक्षिप्त होते हुए भी बड़ा विशलेषात्मक तथा सारगर्भित है। इक्कीसवीं सदी - कातन्त्र व्याकरण का स्वर्णयुग संबंधी प्रतिवेदन अध्ययन हेतु अच्छी सामग्री देता है। अशोक जी का संस्मरण अन्तरंगता लिये होकर प्रभावित

करता है। जैनदर्शन में रत्नत्रय की मीमांसा आत्मानुभूति हेतु मार्गप्रशस्त करता है। आत्मसाधक भैया भगवतीदास एवं उनका 'ब्रह्मविलास' नवीन कवि का परिचय आकर्षित करता है। पुस्तक समीक्षा भी उन्हें देखने की ललक जगाती है। साथ ही जैन संस्कृति आदि सम्बन्धी अन्य जानकारी भी अच्छी है। समाचारदर्शन भी बहुत सारी सामग्री जानने हेतु प्रस्तुत करता है। सभी दृष्टि से अंक अच्छा बन पड़ा है। बधाई स्वीकार करें।

—मदन मोहन वर्मा, ग्वालियर, (म०प्र०) **

‘एक महत्त्वपूर्ण पत्र’

संस्कृत-प्राकृत भाषाओं के एक मनीषी साधक के ‘प्राकृतविद्या’ के बारे में विचार

समादरणीय सुदीप जी !

आपकी सम्पादकीय मनीषा से मण्डित स्वयं आपके हाथों प्राप्त कर आन्तरिक प्रसाद का बोध हुआ। ‘प्राकृतविद्या’ ने हिन्दी की जैन साहित्यिक शोध-पत्रकारिता में अपनी उल्लेखनीय पहिचान कायम की है और जैनविद्या के बहुकोणीय शास्त्रीय-चिन्तन की दिशा में इसकी भूमिका सातिशय महत्त्वपूर्ण है।

महामहिम आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के पावन आशीर्वाद से संचालित श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट को भी इस पत्रिका ने विशिष्ट अस्मिता प्रदान की है।

यथाप्राप्त अंक में परिवेषित सामग्री तो महार्घ है ही, ज्ञानोन्मेषक भी है। विशेषतः आपका सम्पादकीय नई वैचारिक ऊष्मा का जनक है। डॉ० राजाराम जी का आलेख ऐतिहासिक मूल्य का है। भूरिशः साधुवाद।

—विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव, पटना (बिहार) **

● ‘प्राकृतविद्या’ पत्रिका मिल गई थी, पढ़कर मन को विशेष शांति प्राप्त हुई। हमको बहुत अच्छी लगी। आचार्य विद्यानन्द जी का ‘अभीक्षणज्ञानोपयोग’ वाला लेख तो बहुत ही अच्छा लगा। अन्य लेख भी अच्छे हैं। पुस्तक-समीक्षा एवं समाचार-स्तंभ से भी ज्ञानवृद्धि हुई।

—खेमचन्द जैन, लातसोट (राज०) **

असहिष्णुता की मूर्ति

“रागेण दंभेण मदोदयेण, संजुत्त-चिन्ता विणयेण हीणा।

कोहेण लोहेण किलिस्समाणा, कीवणदा होति असय-काया।।”

—(आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, 1533)

अर्थः— इस कलिकाल में विनय से हीन एवं चिन्ता से युक्त मनुष्य, राग, दम्भ, मद, क्रोध एवं लोभ से क्लेशित होते हुये निर्दयता एवं ईर्ष्या की मूर्ति होते हैं। **

समाचार दर्शन

शिमला में अखिल भारतीय प्राकृत-संगोष्ठी आयोजित

हिमाचल प्रदेश की राजधानी शिमला के ऐतिहासिक एवं सुप्रतिष्ठित राष्ट्रपति निवास (पूर्व वायसराय हाउस) में दिनांक 20 एवं 21 अक्टूबर 2000 के 'प्राकृत के मुक्तक काव्यों में प्रगीत-परम्परा' विषय पर द्विदिवसीय राष्ट्रिय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इसमें विश्वविख्यात मनीषी प्रो० गोविन्द्रचन्द्र पाण्डेय जी ने विषय-प्रवर्तन करते हुए प्राकृतभाषा और साहित्य की महनीयता पर प्रकाश डाला।

कुल चार शैक्षणिक सत्रों में चली इस विशिष्ट संगोष्ठी का आयोजन राष्ट्रीय उच्चतर अध्ययन संस्थान (N.I.A.S.) के द्वारा किया गया था। इसके यशस्वी निदेशक प्रो० विनोद चन्द्र श्रीवास्तव जी ने अत्यन्त गरिमापूर्वक इस संगोष्ठी का आयोजन किया। इसकी प्रमुख विशेषता यह रही कि प्राकृत के मुक्तक-काव्यों पर स्वतन्त्र रूप से पूर्णतया नवीन दृष्टि से इसमें विद्वानों ने चिन्तन प्रस्तुत किये। प्रत्येक आलेख संग्रहणीय एवं मननीय था।

इसमें सम्मिलित विद्वानों में प्रो० कलानाथ शास्त्री, प्रो० हरीराम आचार्य, डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव, प्रो० धर्मचंद्र जैन, प्रो० भागचन्द्र 'भास्कर', डॉ० सुदीप जैन, डॉ० विजयकुमार जैन, डॉ० (श्रीमती) राका जैन आदि प्रमुख थे।

ऐसी उच्चस्तरीय संगोष्ठियों के आयोजन के लिए हरसंभव प्रोत्साहन मिलना चाहिए, ताकि प्राकृतभाषा और साहित्य के लिए अच्छा वातावरण एवं उपयुक्त मंच मिल सके और इसकी गौरव-गरिमा से सभी जन परिचित हो सकें।

—सम्पादक * * *

नासिक में 'महाराष्ट्र जैन इतिहास परिषद्' की स्थापना

"महाराष्ट्र में जैन इतिहास की जड़े काफी गहराई तक फैली हुई है। शोध कार्य यहाँ बड़े पैमाने पर हो सकता है। महाराष्ट्र के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं भाषासंबंधी जैन इतिहास का शोधकार्य शोधार्थियों के आनंद का भी एक कारण हो सकता है। इस शोध खोज को दिखा मिले तथा शोधार्थियों को एक मंच प्राप्त हो, इस उद्देश्य से यहाँ पर 'महाराष्ट्र जैन इतिहास परिषद्' की स्थापना हो रही है", —ये विचार इस परिषद् के अध्यक्ष डॉ० गजकुमार शहा ने अभिव्यक्त किये।

नासिक के फार्मैसी कॉलेज के प्राचार्य जयकुमार शांतिनाथ शेटे के सहयोग से आयोजित इस बैठक में दीपज्योति का प्रज्वलन पं० धन्यकुमार बेलोकर तथा अन्य विद्वानों के सहयोग

से परिषद् की स्थापना सम्पन्न हुई। महाराष्ट्र जैन इतिहास परिषद् की आवश्यकता, कार्यक्षेत्र, तथा उसके स्वरूप के संदर्भ में इस परिषद् के संयोजक तीर्थकर (मराठी) के संपादक श्रेणिक अन्नदाते ने विस्तार से जानकारी दी।

परिषद् की उपाध्यक्षा डॉ० सौ० पद्मजा पाटील, अधिव्याख्याता इतिहास - शिवाजी विद्यापीठ, सचिव — श्रेणिक अन्नदाते तथा कोषाध्यक्ष — शशिकांत सैतवाल को नियुक्त किया गया।

इस परिषद् का कार्यालय C/o मराठवाडा ग्रंथ बिक्री केन्द्र, 38 तुलसी आर्केड, कॅनॉट गार्डन के पास, टाऊन सेन्टर, सिडको, एन-5, औरंगाबाद-431003 है।

परिषद् का पहला अधिवेशन नासिक में ही आयोजित किया जायेगा। उसी समय महाराष्ट्र के इतिहास पर शोध-निबंधों का एक संग्रह भी प्रकाशित किया जाएगा। तथा एक स्मारिका भी प्रकाशित की जाएगी। 'महाराष्ट्र जैन इतिहास परिषद्' को अच्छा जनादर मिल रहा है।

—श्रेणिक अन्नदाते, मुम्बई * * *

जरूरतमंदों की मदद के लिये टाइम्स फाउंडेशन

बिल गेट्स अपनी भारत यात्रा के दौरान बनेट कोलमेन एण्ड कम्पनी की अध्यक्ष इन्दु जैन से भी मिले। यह मुलाकात इकॉनॉमिक टाइम्स और माइक्रोसॉफ्ट की दिल्ली इकाई द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित 'टेकनॉलॉजी समिट' के दौरान हुई। इस मुलाकात से श्रीमती जैन ने उन्हें टाइम्स फाउंडेशन की योजनाओं के दस्तावेज भी भेंट किये।

टाइम्स फाउंडेशन की स्थापना आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विकास के काम में लगे गैरसरकारी संगठनों को मदद देने के लिये की गई है। फाउंडेशन का विश्वास है कि किसी भी मजबूत और लोकतांत्रिक समाज के लिये ऐसा बहुमुखी विकास एक जरूरी आधार होता है। फाउंडेशन इन गैरसरकारी संगठनों को अन्य सरकारों, संगठनों और व्यक्तियों से धन उपलब्ध कराने में मददगार के रूप में कार्य करेगा। फाउंडेशन की कोशिश गैरसरकारी संगठनों के जरिए उन क्षेत्रों में सकारात्मक परिवर्तन लाने की है, जो आज तक उपेक्षा का शिकार रहे हैं।

फाउंडेशन का विश्वास है कि प्रगति के लिये आध्यात्मिक विकास का होना जरूरी है। आज हम तनाव से भरी जिस दुनिया में रह रहे हैं, उसमें आध्यात्मिक समझ ही हममें अपनी नैतिक विरासत के प्रति निष्ठा पैदा कर सकती है। स्कूल, मीडिया और सूचना तकनीक के नये साधनों के जरिये आध्यात्मिकता को आदमी और समाज के जीवन का जरूरी हिस्सा बनाया जा सकता है। फाउंडेशन अपने सहयोगियों के साथ मिलकर पारंपरिक कला-कौशल को प्रोत्साहित करने और सांस्कृतिक विरासत को बचाये रखने की कोशिश करेगा।

फाउंडेशन सरकारों, गैरसरकारी संस्थाओं और व्यक्तियों से दान लेगा। विशेषज्ञों की एक समिति उपयुक्त संगठनों और संस्थाओं का चुनाव करेगी, जिन्हें यह धन सहायता-राशि या ऋण के रूप में उपलब्ध कराया जायेगा। इन परियोजनाओं पर काम किस तरह का हो

रहा है, इसका फाउंडेशन के अधिकारी ध्यान रखेंगे। —रमेश जैन एडवोकेट * *

राजस्थान हाईकोर्ट ने जैन-समुदाय को अल्पसंख्यक माना

राजस्थान हाईकोर्ट ने 'जैन समुदाय' को राज्य में अल्पसंख्यक धार्मिक समुदाय माना है। हाईकोर्ट ने 16 सितम्बर को कहा कि इस समुदाय द्वारा संचालित व स्थापित शैक्षणिक संस्थान संविधान के अनुच्छेद 29 व 30 में प्रदत्त अधिकार प्रयोग करने में अधिकारी हैं। इस निर्णय से राजस्थान में भी जैन समुदाय को राज्य में अल्पसंख्यक का दर्जा हासिल हो जायेगा।

राजस्थान हाईकोर्ट जोधपुर के न्यायाधीश राजेश बालिया ने इस संबंध में विजय शांति एजुकेशनल ट्रस्ट की याचिका को मंजूर कर लिया। ट्रस्ट के वकील महेन्द्र सिंह सिंघवी ने पैरवी की थी। न्यायाधीश ने कहा कि जैन समुदाय एक अलग धार्मिक समुदाय है। राजस्थान में उसकी जनसंख्या अल्प होने के कारण यह अल्पसंख्यक धार्मिक समुदाय की श्रेणी में आता है। अदालत ने कहा कि केन्द्र सरकार द्वारा इस संबंध में अधिसूचना जारी करने या न करने भर से इस समुदाय को संविधान में दिये अल्पसंख्यक-समुदाय के अधिकारों से वंचित नहीं रखा जा सकता।

दोनों पक्षों को सुनने के बाद न्यायाधीश बालिया ने फैसला दिया कि सुप्रीमकोर्ट द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार जो समुदाय किसी राज्य में अल्पसंख्यक है, उसके संविधान के अनुच्छेद 29 व 30 में उल्लेखित अधिकार प्राप्त है। सुप्रीम कोर्ट व दिल्ली हाईकोर्ट ने इस बाबत मान्यता प्रदान की है। केन्द्र सरकार द्वारा जारी अधिसूचना एक सीमित उद्देश्य के लिये है न कि अनुच्छेद 29 व 30 संबंधी अधिकार प्रयोग में लेने के लिये है। अदालत ने कहा कि सुप्रीमकोर्ट द्वारा सेंट स्टीफन के मामले में दिये फैसले के अनुसार याचिकाकर्ता अपने कॉलेज में पचास फीसदी सीटें अपने समुदाय के विद्यार्थियों के लिये आरक्षित रख सकता है। इसके लिये वह खुद परीक्षा आयोजित कर सकता है या राज्य सरकार द्वारा आयोजित परीक्षा में से इन छात्रों को ले सकता है।

स्थानीय नेतृत्व ने जैन समुदाय से अपील की है कि जनगणना में धर्म के कालम में 'जैन' जरूर अंकित करवायें। उन्होंने राज्य सरकार से राज्य अल्पसंख्यक आयोग में जैन समुदाय का एक प्रतिनिधि मनोनीत करने की भी मांग की है। —सम्पादक * *

श्रुत-संवर्द्धन वार्षिक पुरस्कार-2000 समर्पण समारोह

युवा उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी मुनिराज की प्रेरणा से स्थापित 'श्रुत संवर्द्धन संस्थान, मेरठ' द्वारा प्रवर्तित 'श्रुत संवर्द्धन वार्षिक पुरस्कार-2000' का समर्पण समारोह अहिंसा स्थल, अलवर में आयोजित किया गया। 5 श्रुत संवर्द्धन पुरस्कारों में से प्रत्येक के अन्तर्गत रु० 31,000/-की नगद राशि, शाल, श्रीफल एवं प्रशस्ति पत्र से सम्मानित किया गया।

1. आचार्य शांतिसागर छाणी स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार-2000

पं० नाथूलाल जैन शास्त्री, इन्दौर (म०प्र०)

2. आचार्य सूर्यसागर स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार-2000
डॉ० जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)
3. आचार्य विमलसागर (भिण्ड) स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार-2000
डॉ० शेखरचंद जैन अहमदाबाद (गुजरात)
4. आचार्य सुमतिसागर स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार-2000
डॉ० बी०के० खडबड़ी मिरज (महा०)
5. मुनि वर्द्धमानसागर स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार-2000
डॉ० (श्रीमती) रश्मि जैन, फिरोजाबाद (उ०प्र०)—डॉ० अनुपम जैन, इन्दौर * *

श्री यशपाल जैन दिवंगत

प्रख्यात गांधीवादी लेखक तथा मानवीय मूल्यों के श्रेष्ठ पुरस्कर्ता श्री यशपाल जैन का दिनांक 10 अक्टूबर को नागदा (म०प्र०) में निधन हो गया। 'सस्ता साहित्य मण्डल' के मंत्री के रूप में उन्होंने मूल्यपरक साहित्य के प्रकाशन में महती भूमिका निभायी। उन्हें दो बार 'सोवियत लैण्ड नेहरु पुरस्कार', 1960 में पद्मश्री तथा 1963 में 'साहित्यवाचस्पति' उपाधि से अलंकृत किया गया था।

'प्राकृतविद्या-परिवार' की ओर से दिवंगत आत्मा को सुगतिगमन एवं बोधिलाभ की कामना से श्रद्धासुमन समर्पित हैं।

—सम्पादक * *

आवश्यक-निवेदन

जैनविद्या, भारतीय संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व एवं साहित्य के अतिरिक्त प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, पालि एवं हिन्दी साहित्य के समस्त सारस्वत विद्वानों एवं सिद्धहस्त लेखकों से विनम्र अनुरोध है कि आपकी स्नेहभाजन पत्रिका 'प्राकृतविद्या' का 'जनवरी-मार्च 2000 का अंक 'भगवान् महावीर' एवं 'आर्या चन्दना' (सती चन्दनबाला) के चरित्रों पर केन्द्रित विशेषांक होगा। इनके विविध पहलुओं पर अपनी यशस्वी लेखनी से सृजित कर आलेख, कविता, कहानी, आदि यथाशीघ्र सादर आमंत्रित है। कृपया 30 दिसम्बर 2000 तक आप अपनी रचना में A-4 में टंकित कराकर भिजवायें। आलेख 4-5 पृष्ठों से लम्बा न हो तथा सारगर्भित, शोधपरक एवं तथ्यपुष्ट हो —इस बात का विशेष ध्यान रखने की विनती है।

'सम्पादक-मण्डल' के निर्णयानुसार प्रकाशन-सामग्री प्रकाशित की जायेगी। कृपया अपनी रचना के बारे में 'मौलिक', 'अप्रकाशित/प्रकाशित' एवं मात्र 'प्राकृतविद्या' में प्रकाशनार्थ प्रेषित —इन बिन्दुओं का अवश्य उल्लेख करें। —सम्पादक * *

प्राकृतविद्या के स्वत्वाधिकारी एवं प्रकाशक श्री सुरेशचन्द्र जैन, मंत्री, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067 द्वारा प्रकाशित; एवं मुद्रक श्री महेन्द्र कुमार जैन द्वारा, पृथा ऑफ़सेट्स प्रा० लि०, नई दिल्ली-110028 पर मुद्रित।

भारत सरकार पंजीयन संख्या 48869/89

इस अंक के लेखक-लेखिकायें

1. डॉ० दयाचन्द्र साहित्याचार्य—संस्कृत-साहित्य-जगत् में आप एक मूर्धन्य विद्वान् के रूप में जाने जाते हैं, तथा जैनदर्शन, इतिहास एवं संस्कृति के क्षेत्र में भी आपका व्यापक अध्ययन है। इस अंक में प्रकाशित 'जैनदर्शन में 'जिन' शब्द की व्याख्या', लेख आपका है।

स्थायी पता—प्राचार्य, श्री गणेश दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय, लक्ष्मीपुरा, मोराजी, सागर-470002 (म०प्र०)

2. अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ—आप वयोवृद्ध जैनविद्वान् एवं कवि हैं। इस अंक में प्रकाशित हे पावन पर्युषण ! आओ' शीर्षक हिन्दी कविता आपके द्वारा लिखित है।

स्थायी पता—769, गोदिकों का रास्ता, किशनपोल बाज़ार, जयपुर-302003 (राज०)

3. विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव—आप प्राकृतभाषा एवं साहित्य के अच्छे विद्वान् हैं। लेखन एवं चिंतन की मौलिकता आपके सृजन में प्रतिबिम्बित रहती है। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'आदिपुराण में बिम्ब और सौन्दर्य' आपकी लेखनी से प्रसृत है।

स्थायी पता—पी०एन० सिन्हा कॉलोनी, भिखना पहाड़ी, पटना-800006 (बिहार)

4. डॉ० हरिराम आचार्य—आप भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत-प्राकृत के अधिकारी विद्वान् हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के कृतकार्य प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हैं। हिन्दी-संस्कृत एवं प्राकृत के सिद्धहस्त कवि व लेखक हैं। इस अंक में प्रकाशित 'प्राकृत का लोकप्रिय छंद : गाहा' आपकी लेखनी से प्रसृत है।

स्थायी पता—42-ए, पर्णकुटी गंगवाल पार्क, जयपुर-302004 (राज०)

5. डॉ० धर्मचन्द्र जैन—आप कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के संस्कृत-प्राकृत विभाग के कृतकार्य प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हैं। जैनदर्शन, संस्कृत, प्राकृत एवं पालि आदि विषयों पर आपका अच्छा अधिकार है। अनेकों पुस्तकें एवं शोध-आलेख आपने लिखे हैं। इस अंक में प्रकाशित 'प्राकृत सट्टकों में प्रकृति-चित्रण' शीर्षक आलेख आपके द्वारा रचित है।

पत्राचार पता—38-ई, विश्वविद्यालय परिसर, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय-136119 (हरियाणा)

6. श्रीमती इन्दु जैन—आप भारतीय दर्शन एवं अध्यात्म की उत्कृष्ट विदुषी हैं। शाश्वत मूल्यों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रभावी ढंग से प्रस्तुत कर सकना आपके चिंतन की मौलिकता को दर्शाता है। इस अंक में प्रकाशित 'अहिंसा ही विश्वशांति का उपाय' शीर्षक आलेख आपकी लेखनी से प्रसृत है।

स्थायी पता—6, सरदार पटेल मार्ग, नई दिल्ली-110001

7. डॉ० राजमल जैन—जैन संस्कृति, इतिहास एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र में आप एक जाने माने हस्ताक्षर हैं। आपके द्वारा लिखे गये अनेकों पुस्तकों एवं लेख प्रकाशित हैं। सेवानिवृत्ति के बाद भी निरन्तर अध्ययन एवं लेखन के साथ-साथ शोधपूर्ण कार्यों में निरत रहते हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'प्राचीन भारत' पुस्तक में कुछ और भ्रामक कथन', शीर्षक का आलेख आपकी लेखनी से प्रसृत है।

स्थायी पता—बी-1/324, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

8. डॉ० (श्रीमती) माया जैन—आप जैनदर्शन की अच्छी विदुषी हैं। इस अंक में प्रकाशित 'भाषा, विभाषा और शौरसेनी' शीर्षक आलेख आपकी लेखनी से प्रसृत है।

स्थायी पता—पिऊकुंज, अरविन्द नगर, ग्लास फैक्ट्री चौराहा, उदयपुर-313001 (राज०)

9. डॉ० सुदीप जैन—श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में 'प्राकृतभाषा विभाग' में उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष हैं। तथा प्राकृतभाषा पाठ्यक्रम के संयोजक भी हैं। अनेकों पुस्तकों के लेखक, सम्पादक। प्रस्तुत पत्रिका के 'मानद सम्पादक'। इस अंक में प्रकाशित 'सम्पादकीय', के अतिरिक्त 'दशलक्षण धर्म' एवं 'आषाढी पूर्णिमा : एक महत्त्वपूर्ण तिथि' शीर्षक आलेख आपके द्वारा लिखित हैं।

स्थायी पता—बी-32, छत्तरपुर एक्सटेंशन, नंदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली-110030

10. श्रीमती अमिता जैन—प्राकृत, अपभ्रंश एवं जैनविद्या की स्वाध्यायी विदुषी। श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ में संचालित प्राकृतभाषा पाठ्यक्रम में अध्यापन कार्य के साथ-साथ कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान में 'दिगम्बर जैन साहित्य में लेख्या' विषय पर शोध कार्यरत। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'सुयोग्रह बहू', नामक लेख आपकी लेखनी से प्रसृत है।

पत्राचार-पता—बी-704, प्रथम तल, सफदरजंग इन्वलेव एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110029

11. श्रीमती रंजना जैन—आप प्राकृतभाषा, जैनदर्शन एवं हिन्दी-साहित्य की विदुषी लेखिका हैं। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'सम्राट् सारवेल के शिलालेख की सूत्रात्मक शैली की दृष्टि से समीक्षा' एवं 'पवयणसार के मंगलाचरण का समीक्षात्मक मूल्यांकन', 'प्राकृतभाषा का स्वरूप एवं भेद-प्रभेदों का परिचय' आपके द्वारा लिखित है।

स्थायी पता—बी-32, छत्तरपुर एक्सटेंशन, नंदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली-110030

12. धर्मेन्द्र जैन—आप जैनदर्शन एवं प्राकृत के शोध-छात्र हैं एवं सुसाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर के 'जैनविद्या-प्राकृत विभाग' में शोधरत हैं। इस अंक में प्रकाशित 'अध्यात्मक साधक (बीसवीं सदी के महान् आचार्य शान्तिसागर जी) की सामाजिक चेतना' शीर्षक आलेख आपके द्वारा रचित हैं।

13. श्रीमती बिन्दु जैन—आप हिंदी एवं प्राकृत की अध्येत्री विदुषी हैं एवं श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ में 'प्राकृतभाषा विभाग' में उच्च अध्ययनरत हैं। इस अंक में प्रकाशित 'शिक्षा व संस्कृति के उत्थान की महान् प्रेरिका : चिरोजाबाई' शीर्षक आलेख आपके द्वारा रचित हैं। स्थायी पता—157, चन्द्र विहार, मंडावली, आई०पी० एक्सटेंशन, दिल्ली-110092

‘सर्वास्वेह हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः ।

शौरसेनी समाश्रित्य भाषा काव्येषु योजयेत् ।।’ —(नाट्यशास्त्र)

अर्थ:—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! सभी शुद्ध जातिवाले लोगों के लिए शौरसेनी प्राकृतभाषा का आश्रय लेकर ही काव्यों में भाषा का प्रयोग करना चाहिये ।

शौरसेनी प्राकृत

“शौरसेनी प्राकृतभाषा का क्षेत्र कृष्ण-सम्प्रदाय का क्षेत्र रहा है। इसी प्राकृतभाषा में प्राचीन आभीरों के गीतों की मधुर अभिव्यंजना हुई, जिनमें सर्वत्र कृष्ण कथापुरुष रहे हैं और यह परम्परा ब्रजभाषा-काव्यकाल तक अक्षुण्णरूप से प्रवाहित होती आ रही है।”

—डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

(भरत और भारतीय नाट्यकला, पृष्ठ 75)

“भक्तिकालीन हिंदी काव्य की प्रमुख भाषा ‘ब्रजभाषा’ है। इसके अनेक कारण हैं। परम्परा से यहाँ की बोली शौरसेनी ‘मध्यदेश’ की काव्य-भाषा रही है। ब्रजभाषा आधुनिक आर्यभाषाकाल में उसी शौरसेनी का रूप थी। इसमें सूरदास जैसे महान् लोकप्रिय कवि ने रचना की और वह कृष्ण-भक्ति के केन्द्र ‘ब्रज’ की बोली थी, जिससे यह कृष्ण-भक्ति की भाषा बन गई।”

—विश्वनाथ त्रिपाठी

(हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 18)

“मथुरा जैन आचार्यों की प्रवृत्तियों का प्रमुख केन्द्र रहा है, अतएव उनकी रचनाओं में शौरसेनी-प्रमुखता आना स्वाभाविक है। श्वेतांबरीय आगमग्रन्थों की अर्धमागधी और दिगम्बरीय आगमग्रन्थों की शौरसेनी में यही बड़ा अन्तर कहा जा सकता है कि ‘अर्धमागधी’ में रचित आगमों में एकरूपता नहीं देखी जाती, जबकी ‘शौरसेनी’ में रचितभाषा की एकरूपता समग्रभाव से दृष्टिगोचर होती है।”

—डॉ० जगदीशचंद्र जैन

(प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० 30-31)

“प्राकृत बोलियों में बोलचाल की भाषायें व्यवहार में लाई जाती हैं, उनमें सबसे प्रथम स्थान शौरसेनी का है। जैसा कि उसका नाम स्वयं बताता है, इस प्राकृत के मूल में शूरसेन के मूल में बोली जानेवाली भाषा है। इस शूरसेन की राजधानी मथुरा थी।

—आर. पिशल (कम्पेरिटिव ग्रामर ऑफ प्राकृत लैंग्वेज. प्रवेश 30-31)

प्राकृतभाषा के प्रयोक्ता

“मथुरा के आस-पास का प्रदेश ‘शूरसेन’ नाम से प्रसिद्ध था और उस देश की भाषा ‘शौरसेनी’ कहलाती थी। उक्त उल्लेख से इस भाषा की प्राचीनता अरिष्टनेमि से भी पूर्ववर्ती काल तक पहुँचती है।”

—(मधवा शताब्दी महोत्सव व्यवस्था समिति, सरदारशहर (राज०) द्वारा प्रकाशित ‘संस्कृत प्राकृत व्याकरण एवं कोश की परम्परा’ नामक पुस्तक से साभार उद्धृत)

राजगृह में भगवान् महावीर के समवसरण
में जाते हुये पथिकों को जलपान कराती बालिका

“पायन्त्यिध्वगान् गीत्वा बालिका जलमेकशः।
पुनस्तास्ते न मुञ्चन्ति केतकी भ्रमरा इव॥”

-(धर्मसंग्रह श्रावकाचार, 7/109)



अर्थ:- मगध देश की कुलकुमारी-बालिकायें मार्ग में चलने वाले लोगों को मधुर-मधुर गीतों को गाकर जल पिलाती हैं। इसी से पथिक लोग भी फिर उनके जलपान को उसी प्रकार नहीं छोड़ते हैं, जैसे केतकी पुष्प को भ्रमर नहीं छोड़ते हैं।